नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 126 • वर्ष 10 अंक 11
दिसम्बर 2008 • तीन रुपये • 12 पृष्ठ

मुम्बई में आतंकवादी हमला

आतंकवाद इस पूँजीवादी व्यवस्था का पैदा किया नासूर है

यह अन्धराष्ट्रवादी जुनून में बहने का नहीं, संजीदगी से सोचने और फ़ैसला करने का वक़्त है

सम्पादक मण्डल

मुम्बई में आतंकवादी हमले की घटना पिछले कुछ दिनों से प्रिण्ट और इलेक्ट्रानिक मीडिया की सुर्खियों में है। ज़ाहिर है कोई भी विवेकवान और संवेदनशील व्यक्ति इस घटना और इससे पैदा हुई स्थिति पर औपचारिक या अख़बारी ढंग से भावनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करेगा बल्कि पूरे राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य पर अत्यन्त चिन्ता और सरोकार के साथ विचार करेगा।

यह घटना एक बाद फिर यह दर्शाती है कि जब प्रगति की धारा पर गतिरोध की धारा हावी होती है तो किस तरह राजनीति के एजेण्डा पर शासक वर्गों की राजनीति हावी हो जाती है और उनके तरह-तरह के टकराव विकृत रूपों में सामने आते हैं जिनकी क़ीमत जनता को चुकानी पड़ती है। देश के भीतर और पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के स्तर पर शासक धड़ों के बीच के टकराव विभिन्न रूपों में समाज में कलह-विग्रह पैदा करते रहे हैं। इसके अलावा शासक जमातों की नीतियों की बदौलत एक लम्बी प्रक्रिया में आतंकवाद पैदा हुआ और फैलता गया है। शासक वर्ग एक हद तक अपने-अपने हितों के लिए इसका इस्तेमाल भी करते रहे हैं लेकिन कभी-कभी यह उनके हाथ से बाहर निकल जाता रहा है। दोनों ही सूरतों में इसकी क़ीमत जनता ही चुकाती रही है।

एक क्रान्तिकारी मज़दूर अख़बार के नाते 'बिगुल' इस घटना पर दुख व्यक्त करता है और इसकी कठोर निन्दा करता है। 'बिगुल' के पन्नों पर हम बार-बार अपनी यह राय ज़ाहिर करते रहे हैं कि आतंकवाद किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। लेकिन ऐसे समय में रस्मी तौर पर देशभक्ति का मुज़ाहिरा करने के बजाय इस समस्या की जड़ों पर संजीदगी से सोचने की ज़रूरत है।

पूँजीवादी मीडिया ने इस घटना के समय से ही जैसा उन्मादभरा माहौल बना रखा है उसमें संजीदगी से सोचने की ज़रूरत और भी बढ़ गयी है। टीआरपी बढ़ाने के लिए सनसनी के भूखे मीडिया को तो इस घटना ने मानो मुँहमाँगी मुराद दे दी। घटना के दिन से ही सारे टीवी चैनल एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ में जुट गये थे। किसी का कैमरामैन कमाण्डो के पीछे-पीछे घुसा जा रहा था तो किसी का रिपोर्टर अपनी सारी अभिनय प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए रिपोर्टिंग को ज़्यादा से ज़्यादा नाटकीय बना रहा था। गोली चलने, बम फटने, आग लगने या किसी के मरने के दृश्य को किसने सबसे पहले दिखाया इसे बताने की होड़ का बेशर्मीभरा प्रदर्शन लगातार तीन दिन तक चलता रहा। कुल मिलाकर, इस पूरी घटना को देशभक्ति के पुट वाली जासूसी या अपराध कथा जैसा बना दिया गया। अधिकांश चैनलों और अख़बारों की रिपोर्टिंग ने साम्प्रदायिकता का रंग चढ़ी हुई देशभक्ति और अन्धराष्ट्रवादी भावनाओं को उभाड़ने का ही काम किया। हालाँकि कुछ संजीदा पत्रकारों और बुद्धिजीवियों ने कहा कि किसी एक सम्प्रदाय विशेष को कठघरे में खड़ा करना या सीधे पाकिस्तान को निशाना बनाना ठीक नहीं है, लेकिन यह धारा कमज़ोर थी।

इस बात में ज़्यादा सन्देह नहीं कि इस हमले के पीछे जैश-ए-मोहम्मद या लश्करे-तैयबा और अल-कायदा जैसे संगठनों का हाथ हो सकता है और इसके लिए पाकिस्तान की ज़मीन का इस्तेमाल किया गया है। पाकिस्तान में आज कई वर्ग शक्तियों का टकराव बहुत तीखा हो चुका है और बहुत सी शक्तियाँ सत्ता के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होकर काम कर रही हैं। आईएसआई और सेना के भीतर पुनरुत्थानवादी कट्टरपन्थियों के मज़बूत धड़े हैं और ये पूरी तरह सरकार के कहने से नहीं चलते हैं। साथ ही यह भी सच है कि जब-जब शासक वर्ग आर्थिक-राजनीतिक संकट में फँसते हैं तब-तब अन्धराष्ट्रवाद की लहर पैदा करने की कोशिश की जाती है। इससे दोनों देशों के हुक्मरानों के हित सधते हैं। अपने-अपने शासक वर्गों की ज़रूरतों के मुताबिक कभी ये युद्ध के लिए आमादा दिखायी पड़ते हैं तो कभी गले मिलते नज़र आते हैं। जो मुशर्रफ़ कारगिल में युद्ध के लिए ज़िम्मेदार था वही कुछ महीने बाद आगरा में शन्ति दूत बना नज़र आता है।

पाकिस्तान में भी कुछ लोगों ने इस मौक़े पर संजीदगी से काम करने की बात कही लेकिन आसिफ़ अली ज़रदारी की कमज़ोर सत्ता ने इस तरह के बयान देकर फिर वही पुराना दाँव खेलना शुरू कर दिया है कि हम हर तरह से तैयार हैं – दोस्ती चाहो तो दोस्ती, जंग चाहो तो जंग कर

(पेज 12 पर जारी)

चुनावी नाटक का पहला राउण्ड खत्म : मगर जनता को तो असली लड़ाई की तैयारियों में जुटे रहना होगा

बिगुल का यह अंक पाठकों के हाथों में पहुँचने तक छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, राजस्थान, और दिल्ली में विधानसभा चुनावों के नतीजे आ चुके होंगे। सैकड़ों करोड़ रुपये पानी में बहाकर यह तय हो चुका होगा कि अगले पाँच साल तक गद्दी पर कौन बैठेगा और जनता को लूटने-खसोटने का ठेका किसे मिला है। जैसा कि हमने पहले ही कहा था इन चुनावों में जीते चाहे कोई भी, हारेगी जनता ही।

अब तो आम आदमी भी अच्छी तरह समझता है कि बुनियादी आर्थिक नीतियों के सवाल पर सारी पार्टियाँ सभी चोर-चोर मौसेरे भाई हैं। देशी-विदेशी पूँजीपतियों को लूट की खुली छूट देने के सवाल पर ये सब एक हैं। चुनावों के बादें किसी भी पार्टी की सरकार बने, आम मेहनतकश आबादी के लिए कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। लूट-खसोट की नीतियाँ बदस्तूर जारी रहेंगी, छँटनी-तालाबन्दी-दमन-उत्पीड़न का सिलसिला ऐसे ही चलता रहेगा।

फिर भी लोग वोट देने जाते हैं तो इसलिए नहीं कि उन्हें चुनाव से अपनी ज़िन्दगी में किसी बुनियादी बदलाव की कोई उम्मीद है। विकल्पहीनता की स्थिति में बहुतेरे लोग यह सोचते हैं कि तमाम बुरों में से किसी कम बुरे को आजमाकर देख लिया जाये, या फिर जात-धर्म-इलाका आदि के नाम पर वोट डाल आते हैं।

चुनाव बार-बार होते रहेंगे मगर असली सवाल हमारे सामने खड़ा रहेगा। आखिरकार हम नागनाथ और साँपनाथ में से किसी न किसी के हाथों डसे जाने की मजबूरी को ही क्यों चुनें? क्यों न हम उस क्रान्तिकारी विकल्प की तैयारी में लगें जो पूँजीवादी लोकतंत्र के इस तमाशे को ध्वस्त करके जनता का सच्चा जनतंत्र कायम करेगा। जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर मेहनत करने वालों का अधिकार होगा!!

भीतर के पन्नों पर

उजड़ने, बसने और फिर उजड़ने की त्रासदी पेज 4
नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष : समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा पेज 5
बाल मज़दूरी का कारण गरीब माँ-बाप का लालच या बेबसी? पेज 6
शोषण-उत्पीड़न और बदहाली के बीच परिवर्तन के संकेत देता चीन का शेंज़ेन शहर पेज 7
पूँजीपति के लिए मज़दूर सिर्फ़ मुनाफ़ा पैदा करने का एक साधन है! पेज 9
कम्युनिस्ट समाज के बारे में कुछ बातें – फ्रेडरिक एंगेल्स पेज 10
माओ त्से-तुङ की कविताएँ पेज 11

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

तनख्वाह का सच

मज़दूर भाइयो, मैं अभी कुछ दिनों से ही फैक्ट्री में काम करने लगा हूँ, किन्तु इतने में ही मैंने जो चीज जान ली है वह है तनख्वाह देने के पीछे का सच। हमें तनख्वाह क्यों और कितनी दी जाये इसके पीछे मालिक का अपना मतलब होता है। लुटेरा मालिक एक मज़दूर को उतना ही देता है जितना मज़दूर को जिन्दा रहने के लिए न्यूनतम जरूरत होती है। मालिक को खूब अच्छी तरह पता है कि मज़दूर को किसी तरह रोटी, कपड़ा और कुछ दवा चाहिए, साथ में एक किराये का कमरा, क्योंकि अधिकतर मज़दूर अपने गाँवों से दूर शहरों में काम करने आये हैं। इन सभी चीजों के लिए इतनी मँहगाई में 2000-2500 रुपये देना ठीक होगा। मालिक को पता है अगर मैं 2000 रुपये भी नहीं दूँगा तो मज़दूर भूखा या नंगा तो काम करने आयेगा नहीं। मज़दूर फैक्ट्री आये तभी मालिकों के लिए 12-14 घण्टों तक काम करके रोज मालिकों के लिए करोड़ों रुपये मुनाफा बनायेगा। अगर मज़दूर को जिन्दा रहने लायक मज़दूरी भी नहीं दी गई तो एक दिन मज़दूर वर्ग ही मिट जायेगा और इन चोर पूँजीपतियों मालिकों का मुनाफा बंद हो जायेगा। जिस (मुनाफे) को ये लुटेरे कभी भी किसी भी हालत में बंद नहीं होने देंगे। और इसी मुनाफे को जारी रखने के लिए वह कम तनख्वाह देकर मज़दूरों को जिंदा रखता है ताकि उसका मुनाफा बनता रहे। कल्पना करें कि आटा 5 रुपये किलो, चावल 5 रुपये किलो, सरसों तेल 20 रुपये किलो सभी सब्जियाँ 4 रुपये किलो हो जाये तो तुरन्त मालिक सभी का तनख्वाह 1000 रुपये कर देगा और पुराने मज़दूरों को किसी न किसी बहाने निकाल कर नये मज़दूरों की भर्ती ले लेगा। क्योंकि इन सारी चीजों के सस्ते होने पर मालिक भी हिसाब लगायेगा कि अब 1000 रुपये में मज़दूर जिंदा रह सकता है तो 2000 रुपये क्यों दिया जाये।

एक बात और कम्पनी में देखने को मिली कि कम्पनी में जो पुराने मज़दूर हैं जो थोड़ा काम जानते हैं उसको कुछ ज्यादा पैसे (3000-3500) देकर मालिक कुछ-कुछ अपना वफादार बना लेता है। और मालिक साजिशाना ढंग से मज़दूरों के बीच भी दो वर्ग पैदा कर देता है और इससे होता यह है कि नये मज़दूर जब किसी तरह का विरोध करते हैं तो पुराने मज़दूर जल्दी उनका साथ नहीं देते। पुराने मज़दूर कहते हैं हमें क्या है हमें तो 3000 रुपये मिल ही रहा है। वह सोचता है मुझे इन मज़दूरों से ज्यादा पैसा तो मिल ही रहा है और कुछ दिन काम करके कारीगर बन जाऊँगा तो और तनख्वाह बढ़ जायेगी। और मैं अच्छी जिन्दगी जीने लगूँगा। वह यह भूल जाता है कि वह जिस मालिक के लिए काम कर रहा है। वह मालिक उसी की मेहनत से हर महीने बिना कुछ किये लाखों रुपया मुनाफा कमाता है और अपनी सम्पत्ति में कई गुणा की बढ़ोत्तरी करता रहता है। और वह मज़दूर कारीगरी सीखने को ही अपना लक्ष्य बनाकर सालों गुजार देता है। वह मज़दूर अपनी तुलना अपने से नीचे वाले मज़दूर से करता हैं जबकि उसे चाहिए कि वह अपनी तुलना उस नये मज़दूर से न करके उस मालिक से करके देखे कि उसका मालिक कितना ज्यादा मुनाफा बटोर रहा है। सभी मज़दूरों को समझना चाहिए कि ये लुटेरे जो लाखों-करोड़ों कमाता है वह हमारी खून-पसीने से बनाया गया मुनाफा होता है अगर हम मज़दूर वर्ग न हो तो ये लुटेरे भूखों मरेंगे। इसलिए मज़दूरों को अपनी ताकत समझनी होगी और मज़दूरों को संगठित होकर इन मालिकों के खिलाफ लड़ाई में हिस्सा लेना होगा। नये मज़दूरों के साथ-साथ पुराने मज़दूरों को भी समझना होगा कि उसे जो थोड़ा ज्यादा तनख्वाह मिल रही है उससे कुछ नहीं होने वाला। उसका सारा मुनाफा तो मालिक हड़प जाता है और फिर इन पैसों से अगले साल 6-8 मशीनें बढ़ा ली जाती हैं और इसीके साथ मालिक का मुनाफा और फिर कुछ नये मज़दूरों का शोषण बढ़ता जाता है।

– मुकेश
भोरगढ़, नरेला, दिल्ली

एल्ट्रो जेनियो कम्पनी की काली करतूत

एल्ट्रो जेनियो कम्पनी नरेला से सोनीपत की तरफ जाने वाली प्याऊ मनियारी रोड पर स्थित है। इसके कारनामे इतने क्रूर हैं कि इसमें काम करने वाले एक नवयुवक का दिल बगावत से भर जाता है। लेकिन वह अपने आपको अकेला महसूस करके मन मसोस कर रह जाता है। मैं एल्ट्रो जेनियो कम्पनी में पाँच महीना काम कर चुका हूँ। मैं जब इस कम्पनी में भर्ती होने आया तो उस समय कम्पनी के बाहर बोर्ड टँगा था "केवल बारहवीं पास"। मैं बारहवीं पास हूँ इसलिए मैं काम के लिए पहुँच गया। मुझसे इण्टरव्यू लिया गया मुझसे ऐसा बेहूदा सवाल पूछा गया जिसका पढ़ाई लिखाई या कम्पनी के काम से कोई ताल्लुकात नहीं था। उदाहरण के लिए, दिल्ली से यू.पी. कैसे जाते हैं?

जब मैं काम करने गया तो पाया कि कम्पनी में बहुत कम लोग हैं जो बारहवीं पास हैं। कम्पनी मालिक बस अपना नाम हाई-फाई दिखाने के लिए बाहर बारहवीं पास का बोर्ड लगता है। मैंने कम्पनी में 12 नवम्बर 2007 से काम करना शुरू किया पर जब मेरा कार्ड बना तो उसमें 16 नवम्बर लिखा था। मैं तुरन्त मैनेजर के पास गया और उनसे बताया तो उन महाशय का जवाब था कि 4 दिन ट्रेण्ड होने में लगते हैं। मैंने विरोध किया कि मेरा तो भर्ती हेल्पर में हुआ है कारीगर होता तो हाथ की स्पीड देखने के लिए चार दिन लगाते पर क्या सामान इधर से उधर उठा कर रखने में भी ट्रेनिंग लेनी पड़ती है। जब मैं इस पर अडिग रहा तो मुझे धमकी दी गयी कि काम करना है तो करो नहीं तो घर जाओ। ये चार दिन के पैसे नहीं मिलेंगे। मैंने देखा कि सारे वर्करों के साथ यही नियम लागू हुआ है। परन्तु अपने आपको अकेला महसूस कर इस नियम को मानना पड़ा। मेरे साथ 4 लड़के और भर्ती हुए थे परन्तु उन्होंने जब विरोध में आवाज उठायी तो उन चारों लड़कों को सात दिन का पैसा दिये बिना फैक्ट्री से बाहर निकाल दिया गया। इन कम्पनियों में मालिकों मैनेजरों का व्यवहार देख ऐसा लगता है कि धरती पर कितने राक्षस पड़े हैं जो मानवीय जीवन को इतना तुच्छ समझते हैं।

कम्पनी में एक छुट्टी करने पर दो दिन की दिहाड़ी काट लेते हैं। पाँच मिनट लेट होने पर आधा दिन की दिहाड़ी काट लेते हैं। कम्पनी में 10 मिनट पहले ही जाना पड़ता है। कम्पनी में जब तक प्रोडक्शन पूरा ना हो जाये तब तक गेट से किसी को बाहर नहीं जाने दिया जाता।

जब गाँव से फोन आये तो बात कितनी भी गम्भीर क्यों न हो आपको छुट्टी नहीं मिलेगी। मेरे साथ एक चाची काम करती थीं उनकी माता की हालत बहुत खराब थी। वे दो सप्ताह की छुट्टी माँगते-माँगते हार गयी परन्तु उनको छुट्टी नहीं दी। तीन सप्ताह बाद उनकी माता की मृत्यु हो गयी। अगर वह कम्पनी छोड़कर जाती तो उनको काम से निकाल दिया जाता। काम के पैसे और पी.एफ. भी नहीं दिया जाता।

मेरे मज़दूर साथियो, आखिर कब तक हम जुल्म, अन्याय और अपमान सहते रहेंगे। आओ साथियो अपना हथौड़ा उठाकर इन जुल्मियों का सीना चकनाचूर कर दें। इनके लिए इन्सान जानवर होता है और पैसा इनका बाप। साथियो, हम जानते हैं कि अपने लिए तो सब जीते हैं लेकिन असली जीना तो उसको कहते हैं जो हजारों माँ-बाप के आँखों में उम्मीद के दीपक जलाते हुए जीते हैं।

– जीतू
शिवपुरी, प्याऊ मनियारी रोड, नरेला, दिल्ली

बिगुल मार्गदर्शक है

मैंने गरीबी या मजबूरीवश अपनी पढ़ाई छोड़ दी और मैं दिल्ली आ गया। मैं पढ़ना चाहता था। आगे बढ़ना चाहता था, समाज को, देश को जानना चाहता था। मगर हालात के बीच दबकर रह गया। इसी दौरान मेरी मुलाकात नौजवान भारत सभा के साथियों से हुई और मैं उनसे जुड़ा उनसे मुझे काफी कुछ सीखने को मिला और साथ ही बिगुल से जुड़ा। बिगुल पढ़ने पर मेरे अन्दर आशा की एक किरण जगी। और मैंने अपने आप में एक ताकत महसूस की। बिगुल से मेरी खोई हुई उम्मीद वापस आ गयी। बिगुल ने मेरा मार्गदर्शन किया। मैं बिगुल नियमित पढ़ता हूँ। पिछले अंक में मैंने कॉ. अरविन्द के बारे में पढ़ा था उनके निधन के बारे में सुनकर काफी दु:ख हुआ। लेकिन उनकी बहादुरी और दिलेरी हमें नई राह दिखाती है। बिगुल ही हमें देश की सच्चाई से रूबरू कराता है। मैं बिगुल को अपना गुरु मानता हूँ।

– जितेन्द्र, प्रकाश विहार,
करावल नगर, दिल्ली

लोकतंत्र

सच्ची बात है तीखी मिर्च बात कहुँ मैं चोखाऽ
लोकतंत्र है देखो भैय्या एक सुनहरा धोखाऽ
वोट बहुमुल्य देकर हमने जिसको नेता बतायाऽ
पानी जो माँगा हमने तो सीधे थप्पड़ खायाऽ
लोकतंत्र की इज्जत हमने थाने में लुटते देखाऽ
लोकतंत्र है देखो भैय्या एक सुनहरा धोखाऽ
चुनाव जीतने से पहले चप्पल फटी पुरानी थीऽ
बनकर जब मंत्री आया गाड़ी वो जापानी थीऽ
नेताओं को रिश्वत लेते लाइव सो सबने देखाऽ
लोकतंत्र है देखो भैय्या एक सुनहरा धोखाऽ
उनकी पुलिस है उनकी अदालत सब कुछ पैसे वालों कीऽ
वोट डालना भूखों मरना हालत है कंगालों कीऽ
भूखे पेट मज़दूरों को बदन तोड़ते देखाऽ
लोकतंत्र है देखो भैय्या एक सुनहरा धोखाऽ
पोंछ के अपने आँसू को तुम मैदां में जावोगेऽ
तोड़ोगे बेड़ी अपनी तब आज़ादी पाओगेऽ
वक्त वक्त पर खुँरेज़ी से वक्त बदलते देखाऽ
लोकतंत्र है देखो भैय्या एक सुनहरा धोखाऽ

मैं बिगुल के साथ सिर्फ सात महीने से जुड़ा हूँ नया पाठक होने की वजह से इतिहास के बारे में ज्यादा कुछ पढ़ने को नहीं मिला। सम्पादक महोदय से अनुरोध है कि तेलंगाना शस्त्र विद्रोह के बारे में जानना चाहता हूँ। तेलंगाना विद्रोह क्यों हुआ था और उसका दमन कैसे किया गया था। अगर सम्भव हो तो एक रिपोर्ट जरूर छापें।

– धन्यवाद सहित **टी.एम.अंसारी**

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006**
सम्पादकीय उपकार्यालय : **जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ**
दिल्ली सम्पर्क : **बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94 फोन : 011-65976788**
ईमेल : bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति–रु. 3/- वार्षिक–रु. 40.00 (डाक खर्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :

1. **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
2. **जनचेतना स्टाल, काफी हाउस बिल्डिंग, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)**
3. **जाफरा बाजार, गोरखपुर-273001**
4. **जनचेतना सचल स्टाल (ठेला) चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)**

अपोलो अस्पताल लुधियाना के कर्मचारी भी संघर्ष की राह पर

लुधियाना-दिल्ली हाईवे पर स्थित सतगुरु प्रतापसिंह अपोलो अस्पताल के जी.डी.ए.(जनरल डिप्टी असिस्टेण्ट) स्टॉफ के कर्मचारियों ने बीती 17 नवम्बर को अपनी माँगों को लेकर हड़ताल कर दी। 150 के लगभग कर्मचारियों में से 85 फीसदी हड़ताल पर बाहर आ खड़े हुए। उनमें से अधिकांश महिलाएँ थीं। ये सभी कर्मचारी ठेके पर भरती हुए थे। इनकी ठेकेदार एवरशाईन नामक दिल्ली की कम्पनी है। वर्करों की माँगों में तनख्वाह बढ़ाने की माँग मुख्य थी। उनका यह भी कहना था कि हमें अपोलों में काम करते हुए 3 साल हो चुके हैं इसलिए हमें पक्का भी किया जाये। यहाँ यह भी बताना जरूरी है कि इन वर्करों को कोई पी.एफ. नंबर या ई.एस.आई नंबर नहीं मिला है लेकिन इसके बावजूद उनकी तनख्वाह में से पी.एफ. या ई.एस.आई. के नाम पर कटौती होती रहती है। बिना कोई कारण बताये तनख्वाह भी काट ली जाती है। अगर महीने में पाँच इतवार आ जायें तो एक इतवार काट लिया जाता है। इसके अलावा दीपावली, दशहरा आदि की छुट्टी काट ली जाती है जबकि अस्पताल के डॉक्टरों इत्यादि को इस दिन छुट्टी मिलती है। दो महीने पहले भी इन वर्करों ने अपनी माँगों को लेकर एक घण्टे की हड़ताल कर दी थी। तब अस्पताल के सीनियर डॉक्टर, डॉ एस.पी.सिंह खुद हाथ जोड़कर कर्मचारियों को वापिस काम पर लाने पहुँच गये तथा उन्होंने कर्मचारियों को 3180 रुपये महीने के हिसाब से तनख्वाह देने का वादा किया। सभी वर्कर इस झाँसे में आकर काम पर आ गये। एक बार उन्हें तनख्वाह 3180 के हिसाब से मिली पर 12 नवम्बर को जो तनख्वाह उन्हें मिली उसमें मैनेजमेण्ट ने पिछली कसर भी पूरी कर दी। अगर किसी की तनख्वाह 2600 बनती है तो उसे 1900 देकर चलता कर दिया। 12-12 घण्टे काम करने वाले कई वर्कर जिनकी तनख्वाह 4300 से ऊपर बनती थी उसे 2500-2600 देकर चलता कर दिया।

अपोलो में आठ घण्टे की दिहाड़ी है तथा ओवरटाईम का डबल भी नहीं मिलता। इसके अलावा वर्करों के साथ मारपीट और गाली- गलौज आम बात है। यह काम ना केवल सुपरवाइजर स्तर के अफसर करते हैं बल्कि अस्पताल के डॉयरेक्टर स्तर के सभी डॉक्टर तथा अफसर भी इस बहती गँगा में अपने हाथ धोते हैं। एक सीनियर डॉक्टर तो बूटों और लातों से मार-मार कर वर्करों को अधमरा करने के लिए मशहूर है। पहली हड़ताल के बाद भी उस हड़ताल में अगुआ भूमिका निभाने वाले एक वर्कर धर्मपाल को उसके सुपरवाइजरों ने चोरी का झूठा इल्जाम लगाकर पीट-पीटकर अधमरा कर दिया। इस पर वर्करों ने जबरदस्त विरोध किया जिसके कारण मैनेजमेण्ट को मजबूरन उन सुपरवाइजरों को बाहर निकालना पड़ा।

जी.डी.ए. के अलावा अस्पताल में हाउसकीपिंग स्टॉफ के भी 130 वर्कर हैं जिनका काम साफ-सफाई का है। अपनी माँगों को लेकर इन कर्मचारियों ने भी पिछले समय में हड़ताल की तथा अपनी मजबूत एकता के चलते हड़ताल जीती। उनके हर नये वर्कर को पी.एफ., ई.एस.आई. काटने के बाद 2740 रुपये मिलता है तथा पुराने वर्करों को 3200 से 3500 रुपये मिलते हैं। इससे पहले हाउसकीपिंग स्टॉफ का हाल भी जी.डी.ए. वर्करों जैसा था। इसके अलावा किसी सुपरवाइजर की धौंस-पट्टी सहे बगैर हाउसकीपिंग के वर्कर शान से काम करते हैं। कुछ समय पहले एक महिला वर्कर के साथ छेड़खानी करने पर हाउसकीपिंग वर्करों ने उस सुपरवाइजर को जमकर धुना तथा माफी मँगवायी। और इतना सब उन्होंने अपनी एकता के चलते ही हासिल किया है।

डॉक्टरी पेशे को वैसे तो बहुत ऊँचा दर्जा हासिल है और खुद डॉक्टरों को भगवान का दर्जा हासिल है। पर अपने ही वर्करों से यह गणमान्य हस्तियाँ जानवरों से भी बदतर सलूक करते हैं। इस अस्पताल को अमेरिका के एक सामाजिक संगठन जे.सी.आई.यू.एस.ए.(ज्वाइंट कमिशन इण्टरनेशनल यूनाईटेड स्टेट ऑफ अमेरिका) की मान्यता प्राप्त है। वर्करों का कहना था कि जब अस्पताल प्रबंधन को यह मान्यता मिलनी थी तो जी.डी.ए. वर्करों से 12-12 घण्टे बिना किसी अतिरिक्त तनख्वाह के काम लिया गया। उन्हें कहा गया कि मान्यता मिलने पर उनकी तनख्वाह बढ़ा दी जायेगी। पर यह सब बाद में एक कोरा झूठ ही साबित हुआ। यहाँ यह बता देना जरूरी है कि जे.सी.आई. ऐसी संस्था है जो अस्पतालों को कई प्रकार की सुविधाएँ देती है। जैसे इसी अस्पताल की 40-50 लाख की एमआरआई मशीन खराब होने पर यह मशीन अस्पताल को जे.सी.आई. ने दी। लेकिन इस सब में वर्करों के हाथ सिवाये झुनझुने के और कुछ नहीं लगा।

विगत 12 नवम्बर को जब जी.डी.ए. वर्करों को कम तनख्वाह मिली तो उन्होंने मैनेजमेण्ट से बात की तथा पूरी तनख्वाह न मिलने पर 17 नवम्बर सोमवार को हड़ताल की धमकी दी। पर अस्पताल प्रबंधन ने इस पर कोई कान न धरा। कम तनख्वाह मिलने पर वर्कर डॉ.एस.पी.सिंह के पास भी गये पर वे इस बात से साफ मुकर गये कि उन्होंने 3180 रुपये महीने के हिसाब से तनख्वाह देने का कोई वादा किया था। यही हाल बाकी सभी सम्बन्धित अफसरों व डॉक्टरों का था।

17 नवम्बर को सुबह की शिफ्ट के वर्कर अस्पताल के मेन गेट के पास जुटने लगे तथा रात की शिफ्ट से बाहर आने वाले वर्कर भी उनके साथ हो लिये। सुबह 9 बजे तक, रात के तथा जनरल शिफ्ट के 85 फीसदी वर्कर हड़ताल पर थे। बाद में दोपहर 1 बजे की शिफ्ट के वर्कर भी उन्होंने बाहर ही रोक लिये और वह भी हड़ताल में शामिल हो गये। एक ध्यान देने वाली बात यह है कि इन वर्करों की कोई यूनियन नहीं है। इसलिए काफी देर तक यह भी साफ नहीं हो पाया कि उनकी माँगें क्या हैं। काफी वर्करों से बातचीत करने पर कुछ स्पष्ट हो पाया। वर्कर चाहते थे कि उनकी तनख्वाह ई.एस.आई., पी.एफ. काट कर 3000 मिलनी चाहिए तथा लम्बे समय से काम कर रहे वर्करों को अपोलो की तरफ से पक्का करना चाहिए। उन्हें बोनस मिलना चाहिए। और इस बार उन्हें यह सब लिखित में चाहिए तथा वह किसी जबानी भरोसे पर कोई विश्वास नहीं करेंगे। अपोलो का कहना था कि वे वर्कर अपोलो के नहीं हैं बल्कि एवरशाईन के हैं इसलिए अपोलो ना तो उनकी तनख्वाह के लिए जिम्मेवार है और ना ही वह अपोलो की तरफ से भरती किये या पक्के किये जायेंगे। असल में अपोलो का मैनेजमेण्ट साफ तौर पर बेईमानी कर रहा है। 1970 के ठेका मज़दूर कानून के तहत अगर ठेकेदार काम करने की सही स्थिति नहीं देता या मज़दूरी मारता है तो मुख्य मालिक को कानूनन वे सारी सुविधाएँ और मज़दूरी मज़दूर को देनी होगी, जिसे वह ठेकेदार के भुगतान से काटेगा।

पहले दिन मैनेजमेंट के झूठफरेब के चलते बातचीत से कोई नतीजा नहीं निकलने पर दूसरे दिन 18 नवम्बर को फिर 8 बजे से वर्कर मेन गेट के सामने जुटने लगे। इस बीच गिनती के 3-4 वर्कर शाम की शिफ्ट में काम पर चले गये। जिसे अस्पताल मैनेजमेण्ट बढ़ा-चढ़ाकर बताता रहा तथा वर्करों का मनोबल तोड़ने में लगा रहा। बाहर से भी कुछ वर्कर दिहाड़ी पर लाये गये। वर्करों का मनोबल तो पहले दिन की तोड़-फोड़ से ही टूट जाता अगर वहाँ कारखाना मज़दूर यूनियन का दखल न होता। के.एम.यू. के कार्यकर्ता पहले दिन से हड़ताल पर पूरी नजर रख रहे थे तथा उन्होंने ठेका मज़दूरों के हकों के बारे में एक पर्चे की फोटोस्टेट कापियाँ भी वर्करों को बाँटी। तथा मैनेजमेण्ट की हर तोड़-फोड़ की कार्रवाई को वह प्रचार के जरिये काटते भी रहे। पहले दिन से ही के.एम.यू. वर्करों को अपनी यूनियन बनाने या कम से कम फौरी तौर पर एक संघर्ष कमेटी चुन लेने के लिए कहती रही, पर वर्करों द्वारा इस ओर कोई गम्भीर कदम नहीं उठाया गया। वर्करों में शुरू से ही काफी गुस्सा था पर हड़ताल लड़ने का उनका ढंग काफी बचकाना था। यहाँ तक कि माँगों को लेकर भी अलग-अलग राय आ रही थीं। बहुसंख्यक हड़ताली वर्कर निम्नमध्यवर्गीय परिवारों से थे और उनका यह निम्नमध्यवर्गीय चरित्र उनकी हड़ताल में भी साफ झलक रहा था। अपने-आप को मज़दूर मानने से भी वह इन्कार करते थे। हालाँकि मालिक के लिए काम करने वाला कोई भी व्यक्ति मज़दूर ही होता है।

मज़दूरों के बिखराव और अनुभवहीनता तथा मैनेजमेंट की चालों के कारण तीसरे दिन बिना कुछ ठोस हासिल किये हुए हड़ताल खत्म हो गयी। लेकिन वर्करों का दोबारा अपनी माँगों को लेकर संघर्ष पर आना तय है क्योंकि अपने वादों को मैनेजमेण्ट कितना निभायेगा यह भी शक के घेरे में हैं। फिर भी यह हड़ताल कुछ महत्वपूर्ण सबक छोड़ गयी है। सबसे महत्वपूर्ण सबक यह है कि कोई भी लड़ाई बिना यूनियन के नहीं लड़ी जा सकती। अत: अपोलो वर्करों को भी अपनी यूनियन बनाने के लिए सक्रिय होना होगा। हड़ताल की पहले से तैयारी करनी होगी। हरेक वर्कर को मानसिक रूप से तैयार करना होगा। मालिकों द्वारा हर तोड़-फोड़ की कार्रवाई का मुहँतोड़ जवाब देना पड़ेगा। भितरघातियों और मालिकों के चमचों से सावधान होना होगा। अगली बार इस बात का ध्यान रखना होगा कि जब भी कोई कार्रवाई करनी हो तो वह संगठित और योजनाबद्ध होनी चाहिए और उसमें अस्पताल के अन्य कर्मचारियों को भी शामिल करना चाहिए।

– बिगुल संवाददाता

आपस की बात

हर कोई लूट रहा है मज़दूर को

मैं एक मज़दूर हूँ। मैं करीब 25 सालों से लुधियाना की अनेक कम्पनियों में काम कर चुका हूँ लेकिन हर प्राईवेट कम्पनी के मालिकों का व्यवहार एक जैसा ही है। हर मालिक मज़दूरों का शोषण कर रहा है। कहाँ है सरकार, कहाँ है लेबर इंस्पेक्टर, कहाँ है कानून? हर जगह जंगल का राज है। सीधे-सादे मज़दूरों को हर कोई लूट रहा है। कितनी कम्पनियाँ अपने अधिकतर मज़दूरों की रजिस्टर पर हाजिरी ही नहीं लगाती। न फण्ड, न बोनस, न छुट्टी, न डॉक्टरी सुविधा। जब चाहा निकाल दिया। मेहनत का पैसा दिया या नहीं दिया मालिकों की मर्जी।

कई बार काम से निकालने के बाद काम छोड़ने पर, फिर आने को कहकर मज़दूरों को महीनों दौड़ाने के बाद भी पैसा नहीं देते। ऐसी हालत से मज़दूर खुद को बेबस पाता है। कोई सबूत न होने के कारण न तो मज़दूर कानून की शरण में जा पाता है और न पुलिस के पास ही। थकहारकर मज़दूर पैसा छोड़कर चला जाता है। साथी मज़दूर अपनी रोजी-रोटी के जाने के डर से खामोश रहते हैं। बहुत से फैक्ट्री मालिक सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम वेतन ही नहीं देते। एक हैल्पर को 1800 या 2000 से ज्यादा नहीं मिलता।

जिस मज़दूर ने अपनी मेहनत और लगन के बल पर देश की आर्थिक स्थिति को बुलंदियों पर पहुँचा दिया, वही आज भूखा सोने पर मजबूर है। आज सरकार बाल मज़दूरी खत्म करने के लिए कानून तो बनाती है लेकिन बाल मजदूरी के कारणों की अनदेखी करती है। हमारे देश के प्रधानमंत्री महोदय देश के संसाधनों पर पहला हक मुसलमानों का होने का दावा करते हैं। लेकिन पहला हक मज़दूरों का है। चाहे वह किसी धर्म का क्यों न हो। मैं एक हिन्दुस्तानी होने के नाते राजनीतिक दलों से अपील करता हूँ कि मजहब के नाम पर अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए जहर न घोलें। कांग्रेस को मुसलमानों की चिंता है और भाजपा को हिंदुओं की। हमारे राज ठाकरे को तो सिर्फ महाराष्ट्र की चिंता है तो कोई कश्मीर के लिए चिन्तित है। पूरे देश और देशवासियों के लिए चिंता करना किसी को दिखायी नहीं देता। आज भ्रष्ट राजनेताओं, अफसरों, उद्योगपतियों का काला धन स्विस बैंकों में पड़ा सड़ रहा है। उसको अपने देश में लाने की कोई सरकार कोशिश नहीं करती और न ही आवाज उठाती है। सपेरों और भिखारियों का माना जाने वाला देश आज विश्व के अमीर देशों में अपना स्थान बना रहा है। लेकिन वे भूखे मज़दूर झुग्गी-झोपड़ी और फुटपाथ पर सो रहे हैं जो देश की आर्थिक स्थिति को मजबूत करते हैं।

– बलराम, लुधियाना

दम घोंटने वाले नियम

मैं जीएनबी ब्रदर्स प्राईवेट (लिमिटेड) कम्पनी न. 417 में काम करता हूँ। यहाँ पर कपड़े की कटिंग उसके बाद पैंटशर्ट इत्यादि बनता है। मैं कटिंग डिपार्टमेण्ट में हेल्पर के काम के लिए गया तो कम्पनी ने मुझे रख लिया। पहले दिन जब मैं काम पर गया तो कम्पनी का सुपरवाइजर मुझसे बोला तुम अपनी फाइल बनवा लो। उसके लिए दो फोटो और राशन कार्ड या वोटर कार्ड अपने दसवीं के सर्टिफिकेट के साथ जमा करवा दो। जब मैंने कहा कि फोटो के अलावा और कुछ तो मेरे पास है नहीं तो बोला जहाँ रहते हो उस मकान मालिक के बिजली बिल का फोटोस्टेट जमा करवा दो। और मकान मालिक से लिखा कर आना कि मेरे मकान में ही रहता है।

ये सब चीजें मैंने जुटायीं और लेकर एकाउण्टेण्ट के पास पहुँचा उन्होंने एक फाइल दे दी। बारह पेज वाली इस फाइल के कुछ नियमों को मैं अपने सभी मज़दूर भाइयों को बताना चाहता हूँ। पहला नियम यह था कि कम्पनी ने जो नियम बनाया है उन नियमों पर ही चलना है। कम्पनी जो कहेगी वो काम करना होगा। दूसरा कि, अपने सीनियर से पूछ-पूछ कर काम करें। काम गलत होने पर मुआवजा भरना होगा। आपका सीनियर अगर आपको डाँटता है तो उसे सुनना हमारा फर्ज है क्योंकि सीनियर अपनी जगह हमेशा सही होता है।

तीसरा, कम्पनी के निश्चित समय 9 बजे से 15 मिनट पहले यानि 8.45 तक कम्पनी के अन्दर पहुँचना अनिवार्य है। 9 बजे आने पर आधे दिन की दिहाड़ी तथा एक दिन छुट्टी करने पर दो दिहाड़ी काट ली जायेगी।

चार, किसी ट्रेड यूनियन या संगठन से जुड़ने, उसके बारे में कम्पनी में बात करने पर मनाही है। कम्पनी में मज़दूरों को संगठित करने या संगठन बनाने की बातचीत करने पर दण्डित किया जायेगा। अपनी समस्या के लिए अलग से कम्पनी प्रबंधन के पास जायें वहाँ इकट्ठा होकर जाना पूर्णतया वर्जित है।

पाँच, काम छोड़ने के एक महीना पहले रिजाइन लेटर देने पर ही हिसाब दिया जायेगा।

छ:, कम्पनी में खाली बैठना बिल्कुल मना है अगर कोई काम नहीं है तो तुरन्त सुपरवाइजर को खबर दो। खाली बैठे देखे जाने पर दिहाड़ी काट ली जायेगी।

ये सब तो कुछ नियम है जो फाइल में लिखे होते हैं। हालाँकि फाइल के ऊपर कम्पनी का नाम नहीं होता परन्तु मज़दूर को इस पर साइन करने का मतलब यह होता है कि वह उन्हें मानता है। मज़दूरों के हित सम्बन्धी कानून तो मालिक और सुपरवाइजर की जेब में होते हैं। इसके अलावा बहुत सारे अघोषित नियम होते हैं। जैसे बात-बात पर गाली-गलौज, मनमर्जी के हिसाब से ओवरटाइम लगाने के लिए मजबूर करना। एडवांस पैसा मिलता नहीं ओवरटाइम का पैसा भी पेमेण्ट के साथ नहीं मिलता। जबकि दस दिन काम का पैसा रोक कर वेतन देना तो फैक्ट्रियों का दस्तूर बन गया है। कुल मिलाकर मालिक मज़दूरों से कोल्हू के बैल की तरह काम लेना चाहता है। और घोड़े की आँख पर लगी पट्टी की तरह नियमों की पट्टी लगा देता है ताकि वह इधर-उधर कुछ न देख सके। इन नियमों से इधर-उधर होने पर मैनेजर सुपरवाइजर गाली-गलौज करता है और विरोध करने पर गार्ड पीट-पीट कर बाहर कर देता है।

मालिक के बनाये नियमों में हम मज़दूरों का दम घुटता रहता है। जी करता है, नहीं! यह करना ही पड़ेगा कि संगठित होकर उस व्यवस्था का दम घोंट देना पड़ेगा जो हमारे लिए इन दमघोंटू नियमों को बनाती है।

– रामाधार
कुण्डली, सोनीपत

उजड़ने, बसने और फिर उजड़ने की त्रासदी

अगर आप राजधानी दिल्ली को केवल शॉपिंग मॉलों, शॉपिंग कॉम्प्लैक्सों, गगनचुम्बी इमारतों, मेट्रो, खूबसूरत पार्कों और अमीरजादों के लिए बने अपार्टमेण्टों से भरी हुई हरी-भरी दिल्ली के रूप में ही जानते हैं तो आइये आपको उन लोगों के बीच ले चलते हैं जिनके दम पर इन सारी चीजों का निर्माण हुआ है परन्तु जो अपनी ही बनायी इमारतों के जंगल के पीछे छिपा दिये जाते हैं।

बस! नाक अगर बदबू बर्दाश्त कर सके तो एक बार अमीरजादों के फेंके हुए उपभोक्ता सामग्रियों के रैपरों और दिल्ली भर की गन्दगी को इकट्ठा करके बनी कूड़े की अट्टालिकाओं के पास पहुँच जाइये। (उदाहरण के लिए भलस्वा स्थित कूड़े का ढेर) या गन्दगी से बजबजाते नालों की तरफ रुख करिये (उदाहरण के लिए नारायणा)। कानों को अगर हरदम धड़धड़ाते शोर से दिक्कत न हो तो उन जगहों पर पहुँच जाइये जहाँ फ्लाई-ओवरों का जाल बिछा हुआ है (उदाहरण के लिए जखीरा पुल के नीचे) या दिल्ली से नरेला की तरफ़ जाने वाली रेल पटरियों पर चलिये (आजादपुर, वजीरपुर, लालबाग, बड़ा बाग की झुग्गियाँ)। आपको झुग्गी बस्तियों में रहने वाले लाखों मेहनतकश लोगों का विशाल समुद्र थोड़े में सिमटा नजर आ जायेगा जिनका जीवन भयंकर गन्दगी, असुरक्षा, अशिक्षा, बीमारी तथा जुल्म में लथपथ है। तब यह बात ज़रूर समझ में आयेगी कि किस तरह मुट्ठी भर अमीरजादों के ऐशो-आराम के लिए इस लाखों मेहनतकश आबादी का खून पसीना निचोड़कर राजधानी की नकली समृद्धि का चमचमाता पर्दा तैयार किया जाता है जिसकी चमक के पीछे लाखों लोगों के नारकीय जीवन का सच छुपा दिया जाता है।

दिल्ली के इन अँधेरे गन्दे कोनों में रहने वालों की संख्या 35 से 40 लाख के बीच है। झुग्गियों में रहने वाली यह 35-40 लाख आबादी पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा लादी गयी लगभग एक जैसी निर्ममता का शिकार है। परन्तु इन पर चर्चा करने से पहले ज़रूरी होगा कि कुछ इलाकों की चर्चा कर ली जाये जिन्हें अन्य इलाकों की तुलना में अतिरिक्त भीषण समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

नरेला से लेकर दिल्ली तक रेलवे लाइन के किनारे-किनारे लाखों लोगों की झुग्गियाँ पटरियों से महज दो-तीन हाथ की दूरी पर हैं। अकसर मजदूर, महिलायें और बच्चे ट्रेन की चपेट में आते रहते हैं। अखबारों के लिए वैसे तो यह सब खबर ही नहीं होती या कभी खाली जगह भरने के लिए खबर छपती भी है तो एक ठण्डी तटस्थता के साथ उसे महज एक खबर या मज़दूर की लापरवाही के रूप में छाप दिया जाता है जबकि हकीकत तो यह है कि झुग्गियों के इतने करीब होने के चलते रेल की पटरी उनके दैनिक कार्यक्षेत्र में शामिल ही रहती है और यह लुटेरी व्यवस्था एक मज़दूर को केवल पेट भरने के लिए इतनी चिन्ताएँ दे देती है कि सजगता के बावजूद चिन्ताओं के शोर में पीछे आती ट्रेन का हॉर्न और पहियों का धड़धड़ाता शोर दब जाता है और ट्रेन बड़ी बेदर्दी से उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देती है।

वजीरपुर इण्डस्ट्रियल एरिया में जहाँ लोहे व स्टील का काम प्रमुखता से होता है, यहाँ पर भट्टियों से निकलने वाला काला धुँआ, बर्तनों की बफिंग से निकलने वाली काली गर्द, वाहनों की लगातार आवाजाही से उठने वाली अनवरत धूल मज़दूरों के फेफड़ों में जमा होती रहती है और टीबी, पीलिया, दमा इत्यादि रोगों का शिकार बनाती रहती है। इन फैक्ट्रियों से निकलने वाली कालिख इतनी अधिक होती है कि जमीन तक काली नजर आती है। यहाँ एक घण्टा टहलने पर कपड़े से खुले अंगों पर कालिख की एक परत जम जाती है। फैक्टरी से निकलने वाले मज़दूर काले भूत जैसे नजर आते हैं बस उनके दाँत चमकते रहते हैं। इसके अतिरिक्त सफेदी और लालिमा दिखती है तो फैक्ट्रियों के काँचों पर जिन्हें मज़दूर साफ करते हैं या एयरकण्डीशन कार से उतरने वाले इन कारखानों के मालिकों के फूले-फूले गालों पर।

भलस्वा के कूड़े के पहाड़ की तलहटी से लेकर ऊपर तक बसने वाले लोगों को भयानक गन्दगी और बदबू का सामना करना पड़ता है। इस ढेर पर चील, गिद्ध, कुत्तों का गिरोह मँडराता रहता है जानवर विषाक्त कूड़े को खाकर मरते रहते हैं और फिर सड़कर कूड़े और वहाँ के वातावरण को विषाक्त बनाते रहते हैं। वैसे तो यहाँ ऊपर से कूड़ा कचरा सड़-सड़कर बहता रहता है परन्तु बरसात में ऐसे लगता है जैसे कि किसी पर्वत से सड़ा गला भयंकर बदबू मारता लावा बह रहा हो और उसी में झुग्गियाँ कुकुरमुत्ते की तरह उगी हों। चारों ओर सड़ा काला बदबू मारता कीचड़ फैला रहता है। यह पानी रिस-रिस कर नीचे जाता है और कई जगह तो पीने के पानी की पाइप टूटने से उसमें मिल जाता है जिससे हैजा, उल्टी, दस्त का प्रकोप चलता रहता है। गाँव से आये कुछ मज़दूरों का कहना था कि पहले तो दुर्गंध इतना परेशान करती थी कि बीच-बीच में मन करता था कि कुछ देर तक साँस ही न लें परन्तु बिना साँस लिये तो जिया नहीं जा सकता और अब तो धीरे-धीरे आदत-सी पड़ गयी है।

नारायणा में झुग्गी में बसने वाली एक भारी आबादी आठ-नौ फुट गहरी और 4-5 फुट चौड़ी सड़ती बजबजाती नाली के किनारे रहती है। इन नालों की दूरी झुग्गियों से बमुश्किल 2 फुट होगी। इन लोगों ने नाले को पार करने के लिए करीब डेढ़-दो फुट चौड़ा लकड़ी की पटरी लगी रखी है। इस नाले में अक्सर मज़दूरों के बच्चे गिरकर अपनी जान गँवाते रहते हैं।

अब जरा यह देखें कि किस तरह दिल्ली की झुग्गियों में बसने वाली आबादी जब एक बार उजड़ी तो लगातार उजड़ती ही रही। पूँजी की मार से उजड़ने वाले गाँवों के गरीब अपनी रोजी रोटी के लिए दिल्ली में आकर बसने लगे। उजड़ने-बसने और फिर उजड़ने के बीच जिस त्रासदी का ये मेहनतकश आबादी शिकार होती रही उसकी बानगी देखने के लिए हम एक या दो झुग्गी इलाकों को मिसाल के तौर पर लेंगे जिससे दिल्ली की बहुत सारी झुग्गी बस्ती की लगभग एक आम तस्वीर उभर आयेगी।

यह इलाका है नई दिल्ली रेलवे स्टेशन के पास कमला नगर मार्केट (थाने के पीछे) वेस्टवेटन रोड पर बनी झुग्गियाँ और मिण्टो रोड पर शिवाजी पार्क के करीब काली मन्दिर के पास बनी झुग्गियाँ।

इन झुग्गियों के बसने की शुरुआत 1980 के आसपास हुई। शुरू में जो लोग आये वे काम के लिहाज से यहीं पन्नी इत्यादि लगाकर रहने लगे। बाद में गाँवों से जब और लोग उजड़ने लगे तो इन्हीं की उँगली पकड़कर वे भी इन इलाकों में आने लगे। कुछ लोग अपने नजदीकियों या रिश्तेदारों के पास आकर रुके तो कुछ का बिस्तर आने के साथ ही फुटपाथ पर खुले आसमान के नीचे बिछने लगा। अपने परिचित या रिश्तेदार के यहाँ रुकने वालों को भी जल्दी ही खुले आसमान के नीचे पटरी या फुटपाथ पर जाना पड़ा क्योंकि प्लास्टिक की पन्नी से बना दस या बारह फुट का तम्बू खुद उस परिवार के लिए बहुत छोटा पड़ता था। यहाँ आकर फुटपाथों पर बसेरा डालने के साथ ही रोजी-रोटी कमाने के लिए वे विभिन्न कामों की तरफ मुड़ गये। रेहड़ी, खोमचा, रिक्शा चलाने, सिलाई करने, कारखानों में, निर्माण क्षेत्र में दिहाड़ी पर खटने, बेलदारी, गाड़ियों की मरम्मत करने, कपड़े धोने और दुकानों-ढाबों पर काम करने लगे। जिनका पूरा परिवार आ गया था उनकी औरतें आसपास की कोठियों में बर्तन माँजने के लिए जाने लगीं। परिवार के बच्चे भी लिफाफा बनाने जैसे काम करने लगे। नये आये लोगों ने मेहनत कर-करके, तिलतिल मर-मर के खुद का खर्चा चलाने और पेट काट कर घर-परिवार को खर्च भेजना शुरू किया। इस तरह साल-दो-साल में थोड़ा-थोड़ा बचाकर इन लोगों ने भी थोड़ी पन्नी खरीदी और अपने परिचितों की मदद और साथ पाकर अपना भी तम्बू तान दिया। परन्तु अगले दो दिन के अन्दर उनके तम्बू जमींदोज हो गये क्योंकि "समाज-सुरक्षकों"(पुलिस) को कुछ चढ़ावा नहीं पहुँचा था। इतनी हिमाकत कि बिना चढ़ावा के तम्बू तान दें। खैर! मरता क्या न करता। पुलिसवालों को चढ़ावा चढ़ाकर अपने पन्नी के ठीहे के जमींदोज न होने की गारण्टी खरीदी। एक ठीहा मिल गया तो अधिकतर लोगों ने अपने परिवार को भी यहाँ ले आये। क्योंकि यहाँ औरतों के काम करने का स्कोप था जिससे घर की आय बढ़ती। इस तरह यहाँ जब लोगों की संख्या बढ़ने लगी तो चुनावी मदारियों की नजर से यह कैसे छुप सकता था? नेताओं ने वोट बैंक के मद्देनजर यहाँ चक्कर लगाना शुरू कर दिया। पुलिस की वसूली से त्रस्त होकर जब लोगों ने संगठित होकर विरोध करना शुरू कर दिया तो नेताओं ने उद्धारकर्ता का बाना ओढ़कर श्रेय लेने के खातिर 10-12 गज की जगह लाठी से नापकर अस्थायी रूप से एलॉट करवा दी हालाँकि यह जगह इतनी छोटी थी कि चारपाई के ऊपर नीचे दोनों जगह सोना पड़ता था। हालाँकि किसी को छत डालने की अनुमति नहीं थी। कुछ लोगों ने छत डालने के लिए 5000/- रुपये जमा किया परन्तु जब छत डाला तो उसे पुलिस वालों ने तोड़ दिया। बाकी जिन्हें कोई जगह एलॉट नहीं हुई उनसे पुलिस वाले 100 से 500 रुपये महीना वसूलते रहे। पर केवल जगह एलॉट होने से तो वो मतदाता बन नहीं सकते थे तो नेतानगरी के सारे उद्यम की सार्थकता कैसे सिद्ध होती? इसलिए इन लोगों के राशन कार्ड बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई। हालाँकि इस प्रक्रिया में खूब धाँधली हुई। 500 से 1000 रुपये खिलाने के बाद ही राशन कार्ड बन सका।

यहाँ पर जिन बुनियादी सुविधाओं की कितनी कमी थी इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि पानी का पाइप बगल से गुजरने के बावजूद लोगों को टोंटी का पानी नसीब नहीं हुआ था। लोगों को पानी के लिए एक से डेढ़ किमी. फासले से किसी मन्दिर या फ्लैटों के पास लगे गहरे बोर वाले नल या टोटियों से लेने के लिए लाइन लगानी पड़ती थी। यहाँ जो नल लगा था उसमें कम गहराई पर बोरिंग के चलते प्रदूषित पानी आता था जिसे पिया नहीं जा सकता था। दिल्ली जल बोर्ड का टैंकर भी यहाँ नहीं आता था। शौचालय की हालत इतनी खराब थी कि नाक दबाकर गन्दगी से आँखें फेरकर ही शौच किया जा सकता था। उसमें भी शौच के लिए 30 रुपये महीना लगता था। संख्या इतनी कम थी कि 100-200 मीटर लम्बी लाइन लगानी पड़ती थी। स्वास्थ्य केन्द्र जैसा-तैसा कामचलाऊ था। स्कूल महज एडमिशन के लिए था बाकी पढ़ाई के नाम पर जीरो बटे सन्नाटा। इसके अलावा इन बस्तियों में पुलिस की शह पर चोरी, जुआ, स्मैक, शराब गांजा बिकने के अलावा अन्य अवैध धंधे खुलेआम होते थे। इन धंधों ने थकान से बेहाल लोगों को अपनी गिरफ्त में ले लिया जिसका बहुत गलत असर नौजवानों और बच्चों पर पड़ा। सुलेशन सूँघकर नशा करने वाले बहुत से बच्चे यहाँ मिल जायेंगे।

लोगों ने इतने समय में अपने लिए अब तक रोजी-रोटी का जुगाड़, सर छुपाने की जगह की व्यवस्था कर ली थी लेकिन नये मास्टर प्लान 1991 के हिसाब से तो चमकती (नीट एण्ड क्लीन) दिल्ली चाहिए थी। चमकती दिल्ली पर गन्दे मज़दूरों का दाग यह व्यवस्था कैसे सह सकती थी? और भला व्यवस्था को कहाँ तक गँवारा होता कि धनपशुओं की औलादों को गरीबों का चेहरा देखना पड़े। और फिर पूँजी के विकास का तर्क भी तो यही कह रहा था। अत: कमला मार्केट की झुग्गी का इलाका मेट्रो के सामान निर्माण कार्यशाला और शिवाजी पार्क की झुग्गियाँ फ्लैट तथा पार्क की बलि चढ़ गयीं। इसके लिए 1992-93 से ही चेताया जाने लगा। इसके लिए काफी अच्छा नाटक किया गया जिसका रिहर्सल बार-बार तोड़ने की नोटिस लगाकर किया जाता था। नोटिस लगती थी लोग विरोध करते थे फिर नेता हस्तक्षेप करते और झुग्गियों को तोड़ने की कार्रवाई का समय थोड़ा और आगे बढ़ा देते। परन्तु हकीकत यह थी कि एक तो तत्काल उस जगह की जरूरत नहीं थी वहीं एकाएक तोड़ने पर जो विरोध होता उसे देखते हुए बार-बार नोटिस लगाकर झुग्गीवासियों को इस मानसिक स्थिति में लाने की कोशिश थी कि यह तो अब टूटना ही है। वरना सरकारी बुलडोजरों को सेठों व्यापारियों की सड़क घेरकर बनायी गयी दुकानों को ढहाने में भले ही देर लगती हो परन्तु गरीबों की झुग्गियों को समतल बनाने में उनको जरा भी वक्त नहीं लगता। और जब जरूरत के हिसाब से आखिरी नोटिस लगा तो 30 दिन के भीतर सारा काम निपटा दिया गया।

इस 30 दिन में जो अफरातफरी मची उसका जमकर लाभ इस काम में लगे ठेकेदारों, सरकारी कर्मचारियों, भूमाफियाओं और प्रॉपर्टी डीलरों ने उठाया। यहाँ के लोगों को नरेला में पुनर्वास प्लॉट दिया गया। जिनके पास 1990 के पहले का राशनकार्ड था उन्हें साढ़े बाईस गज का तथा जिनका राशन कार्ड 1990 से 1998 तक का था उन्हें साढ़े बारह गज का प्लाट मिला और जिनका 1998 के बाद का राशन कार्ड था उन्हें कुछ नहीं मिला। इन लोगों को दिल्ली से हमेशा के लिए न उजाड़ना तो व्यवस्था की मजबूरी है क्योंकि ये नहीं रहेंगे तो सारा काम-धंधा चौपट हो जायेगा। जो लोग प्लॉट की पर्ची देने के लिए 7000/- रुपये एक अल्पअवधि में न जमा करवा पाये वो प्लॉट भूमाफियों और प्रॉपटी डीलरों के खाते में चला गया। इसके अलावा प्लॉट पर जिन लोगों ने कुछ समय के भीतर कुछ न बनवा न लिया उनका प्लॉट एक अजीबोगरीब नियम के मुताबिक रद्द कर दिया गया जिसे स्थानीय लोगों ने हड़प लिया या प्रॉपटी डीलरों के खाते में गया जिसे वे अब बनाकर मँहगे दामों पर बेच रहे हैं। बवाना इत्यादि पुनर्वास कालोनियों में तो लोगों को भूमाफिया कारों से आकर धमकाते थे कि सस्ते में बेच दो नहीं तो मरवा देंगे या परिवार साफ करवा देंगे।

इस तरह लोगों का ठिकाना एक बार फिर उजड़ा 2001 में। लोगों को उनके सामानों के साथ नरेला बाजार से करीब ढाई-तीन किमी. दूर जंगलों के बीच खुले आसमान में लाकर छोड़ दिया गया। सरकार ने अपना वायदा निभाते हुए उन्हें प्लॉट तो दे दिया मगर यहाँ कोई भी बुनियादी सुविधा नहीं दी। शौचालय, पानी, बिजली, मेडिकल स्टोर, अस्पताल, नाली, सीवर इत्यादि की कोई व्यवस्था न थी। लोग 24 घण्टे के अन्दर एक ऐसी अपरिचित वीरान जगह पर थे जहाँ जंगल था और साँप, बिच्छू, नेवले, सियारों का राज था। लोगों का सामान इधर-उधर ऐसे-तैसे पड़ा था। लोगों का रोजगार छूट गया। इस अफरा-तफरी में यहाँ सामान देखें या रहने लायक स्थिति बनायें कि काम करें। फिलहाल शुरू के कुछ दिन काम धंधा छोड़कर लोगों ने पन्नी इत्यादि फिर से खींच कर रहने की स्थिति तैयार की। 90-95 प्रतिशत बच्चों की पढ़ाई छूट गयी थी। बच्चे इधर-उधर मारे-मारे फिरते थे। उन बच्चों के सहारे छोड़कर लोग, किराया लगाकर काम धंधे पर दिल्ली जाते तो इधर सामान गायब होने लगा। चोरियाँ होने लगीं। शौचालय की कोई पक्की व्यवस्था न

(पेज 8 पर जारी)

नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष

भारत की तरक्की के दावों के ढोल की पोल : समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा

बोलते आँकड़े चीख़ती सच्चाइयाँ

(पिछले अंक से आगे)

– एक सरकारी आँकड़े के अनुसार, देश की 75 फ़ीसदी माँओं को पोषणयुक्त भोजन नहीं मिलता। विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनिसेफ, यू.एन.एफ़.पी.ए. और विश्व बैंक द्वारा तैयार की गयी 'मैटर्नल मॉर्टेलिटी रिपोर्ट' (2007) के अनुसार, पूरी दुनिया में गर्भावस्था या प्रसव के दौरान 5.36 लाख स्त्रियाँ मर जाती हैं। इनमें से 1.17 लाख मौतें सिर्फ़ भारत में होती हैं। भारत में प्रसव के दौरान 1 लाख में से 450 स्त्रियों की मौत हो जाती है। गर्भावस्था और प्रसव के दौरान मृत्यु के 47 फ़ीसदी मामलों में कारण ख़ून की कमी और अत्यधिक रक्तस्राव होता है। रिपोर्ट के अनुसार, भारत सहित सभी विकासशील देशों में गर्भवती और सद्य:प्रसूता स्त्रियों के मामले में 99 फ़ीसदी मौतें ग़रीबी, भूख और बीमारी के चलते होती हैं। भारत के स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा 2007 में जारी रिपोर्ट 'एन.एफ़.एच.एस.-III' के अनुसार, ग़रीबी के कारण समुचित डॉक्टरी देखभाल का अभाव भारत में माँओं की ऊँची मृत्युदर का मुख्य कारण है। 2007 से पूर्व के आठ वर्षों के दौरान बच्चों को जन्म देने वाली 25 प्रतिशत स्त्रियों को प्रसव के पूर्व या उसके बाद डॉक्टरी देखभाल की कोई सुविधा नसीब नहीं हुई। उक्त रिपोर्ट के अनुसार भारत में अभी भी 60 प्रतिशत प्रसव घर में ही कराये जाते हैं, 37 प्रतिशत मामलों में परम्परागत दाइयाँ और 16 प्रतिशत मामलों में रिश्तेदार या अप्रशिक्षित लोग प्रसव के समय माँ की सहायता व देखभाल करते हैं।

– 1991 के पहले 4 फ़ीसदी से भी कम वार्षिक आर्थिक संवृद्धि के साथ रोज़गार में 2 फ़ीसदी की वृद्धि हुआ करती थी। 1991 के बाद के वर्षों में 6 से 9 फ़ीसदी के बीच वार्षिक आर्थिक संवृद्धि दर होने के बावजूद नियमित रोज़गार में वृद्धि की दर 1 फ़ीसदी सालाना से आगे नहीं जा सकी है। इसका मतलब यह है कि सकल घरेलू उत्पाद का क़रीब 7-8 फ़ीसदी रोज़गार में विस्तार का नहीं बल्कि प्रति व्यक्ति उत्पादन में बढ़ोत्तरी का नतीजा है। उत्पादन में यह ऊँची वृद्धि श्रम की उत्पादकता में वृद्धि से हुई है। 1991 के बाद संगठित सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार में लगातार गिरावट आयी है और संगठित निजी क्षेत्र इस गिरावट की भरपाई नहीं कर पाया है। कारपोरेट जगत में और संगठित उद्योगों में मशीनीकरण और रोज़ाना काम के घण्टे बढ़ाकर उत्पादकता में वृद्धि की जाती रही है। कारपोरेट घराने और संगठित उद्योग मशीनीकरण के साथ ही अनेक प्रत्यक्ष-परोक्ष तरीक़ों से छँटनी करके नियमित रोज़गार और संगठित मज़दूर आबादी को कम करते रहे हैं। यह प्रक्रिया सार्वजनिक क्षेत्र में भी जारी रही है और जिन राजकीय उद्यमों को निजी घरानों या विदेशी कम्पनियों के हवाले किया गया है, उनमें पुराने नियमित मज़दूरों-कर्मचारियों की बड़े पैमाने पर छँटनी की जाती रही है। इस तरह श्रम बाज़ार में श्रमशक्ति का मूल्य घटाकर (दिहाड़ी, ठेका और पीसरेट पर काम कराकर) पूँजीपति श्रम-उत्पादकता बढ़ाने के साथ ही नियमित रोज़गार और उत्पादन-व्यय में मज़दूरी के हिस्से को लगातार घटाते रहे हैं।

– 'फ़ाइनेंशियल टाइम्स' (लन्दन) के अनुसार, टाटा घराने के जमशेदपुर इस्पात संयन्त्र में 1991 में 85 हज़ार मज़दूरों ने दस लाख टन इस्पात का उत्पादन किया जिसकी क़ीमत थी 8 लाख डॉलर। 2005 में यह उत्पादन बढ़कर 50 लाख टन हो गया जिसकी क़ीमत थी क़रीब 50 लाख डॉलर। लेकिन इसी अवधि में संयन्त्र में रोज़गारशुदा कामगारों की तादाद घटकर 44,000 रह गयी। यानी उत्पादन छ: गुना बढ़ गया लेकिन रोज़गार घटकर आधा रह गया। यानी श्रम की उत्पादकता दस गुना से भी ज़्यादा बढ़ गयी। इसी तरह, पुणे में टाटा मोटर्स ने 1999 से 2004 के बीच मज़दूरों की संख्या 35,000 से घटाकर 21,000 कर दी, लेकिन वाहनों का उत्पादन 1,29,000 से बढ़ाकर 3,11,500 कर दिया। यानी श्रम की उत्पादकता 4 गुना बढ़ गयी। मॉर्गन स्टैनले के मुख्य अर्थशास्त्री स्टीफ़न रोश के अनुसार, 1995 के आसपास पुणे के बजाज मोटरसाइकिल कारख़ाने में 24,000 कामगार 10 लाख दोपहिया वाहनों का उत्पादन करते थे, जबकि 2004 में इसी कारख़ाने में सिर्फ़ 10,500 कामगारों ने 24 लाख दोपहिया वाहनों का उत्पादन किया। यानी श्रम-उत्पादकता में 6 गुना से भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी हो गयी। यह स्थिति केवल ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री की ही नहीं बल्कि निजी कारपोरेट क्षेत्र के लगभग सभी उद्योगों की है।

– ऑटोमोबाइल, इलैक्ट्रिक गुड्स, इलैक्ट्रॉनिक गुड्स, कम्प्यूटर, सिलेसिलाये वस्त्र, चमड़े के सामान, पेण्ट, रसायन – इन सभी उद्योगों में हावी कारपोरेट घराने आज ज़्यादा काम ठेके पर असंगठित क्षेत्र से कराते हैं। या तो वे ठेकेदारों के ज़रिये सीधे ठेके पर दिहाड़ी मज़दूर रख लेते हैं, या फिर कुछ काम कुछ छोटे-छोटे वर्कशॉप-मालिकों और छोटे कारख़ानेदारों को दे देते हैं जो दिहाड़ी पर मज़दूर रखकर 60-70 रुपये की दिहाड़ी पर दस घण्टे तक काम लेते हैं और ज़रूरत पड़ने पर सिंगल रेट पर पाँच-छ: घण्टे ओवरटाइम भी कराते हैं। कुल औद्योगिक श्रमशक्ति का लगभग 90 प्रतिशत हिस्सा ऐसे ही असंगठित मज़दूरों का है। इन असंगठित मज़दूरों के लिए न तो कोई कारगर श्रम क़ानून है, न ही सामाजिक सुरक्षा की कोई व्यवस्था है। संगठित क्षेत्र द्वारा उत्पादक कार्रवाइयों का बड़े से बड़ा हिस्सा असंगठित क्षेत्र में करवाना और नियमित रोज़गार के बजाय बड़े पैमाने पर दिहाड़ी मज़दूरों से काम करवाना भूमण्डलीकरण के दौर की सार्वभौम परिघटना है जो विगत 18 वर्षों से भारतीय उद्योगों की भी ख़ासियत बन चुकी है। वेतन में बिना किसी बढ़ोत्तरी के काम के घण्टे बढ़ाने का यह सर्वाधिक प्रचलित उपाय बन चुका है। संगठित क्षेत्र में नियमित रोज़गार के अभाव ने स्वरोज़गार में लगे कामगारों की तादाद में भारी वृद्धि की है। एक ओर जहाँ करघा उद्योग आदि परम्परागत पेशों में लगे स्वरोज़गारी कामगार उजड़ते जा रहे हैं, वहीं पीसरेट पर किसी बड़े उद्योग या रिटेल चेन से काम लेकर घर पर ही छोटी-मोटी मशीन लगाकर या वर्कशॉप बैठाकर पूरे परिवार को लगाकर काम करने वाले कामगारों की संख्या तेज़ी से बढ़ी है। इस समय ऐसे स्वरोज़गारी कामगारों की संख्या 26 करोड़ है। अर्थशास्त्री सी. रंगराजन के अनुसार, ऐसे कामगारों के बड़े हिस्से ने थोड़ी सी अतिरिक्त आय के लिए घण्टों अतिरिक्त मेहनत करके उत्पादकता और कारपोरेट मुनाफ़े में भारी वृद्धि की है और बदले में उन्हें नारकीय बदहाली के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिला है। विगत 18 वर्षों में उत्पादन-व्यय में मज़दूरी-वेतन का हिस्सा लगातार घटता चला गया है। एक अध्ययन के अनुसार, देश के सौ बड़े उद्योगों में 1990-91 में उत्पादन-व्यय में मज़दूरी का हिस्सा 11 प्रतिशत था, जो 2000-01 तक घटकर मात्र 5.56 प्रतिशत रह गया था।

– अब आइये, धनी-ग़रीब के बीच की बढ़ती खाई की बात कर ली जाये। 'मॉर्गन स्टैनले' के कार्यकारी निदेशक चेतन आहया ने 9 जुलाई 2007 को 'इकोनॉमिक टाइम्स' में लिखा था कि "पिछले चार साल के दौरान भारत में एक खरब डॉलर से ज़्यादा की दौलत बढ़ी है, यानी भारत के सकल घरेलू उत्पाद के सौ फ़ीसदी से भी ज़्यादा और इसका बहुत बड़ा हिस्सा आबादी के बहुत ही छोटे हिस्से के हाथों में गया है।" आहया के अनुसार, "पिछले कुछ सालों में भूमण्डलीकरण और पूँजीवाद के उभार की वजह से ग़ैरबराबरी का फ़ासला चौड़ा ही होता चला गया है... ग़ैरबराबरी बढ़ने की वजह से सामाजिक और राजनीतिक भूचाल आ सकता है।" एक अन्य अध्ययन के अनुसार, देश की ऊपर की दस फ़ीसदी आबादी के पास कुल परिसम्पत्ति का 85 प्रतिशत इकट्ठा हो गया है जबकि नीचे की 60 प्रतिशत आबादी के पास मात्र दो प्रतिशत है। देश में 0.01 प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आमदनी पूरे देश की औसत आमदनी से दो सौ गुना अधिक हो चुकी है। देश की ऊपर की तीन फ़ीसदी और नीचे की 40 फ़ीसदी आबादी की आमदनी के बीच का अन्तर आज साठ गुना हो चुका है। आयकर रिटर्नों के अध्ययन पर आधारित अपने शोधपत्र में अभिजीत बनर्जी और थॉमस पिकेरी ने बताया है कि भारत के सबसे अमीर 0.01 प्रतिशत लोगों की आमदनी पूरी आमदनी से 150 से 200 गुना ज़्यादा थी। 1980 के दशक के शुरू में यह घटकर 50 गुना से कम रह गयी थी। 1990 के दशक के अन्त तक यह फिर से बढ़कर 150 से 200 गुना ज़्यादा हो गयी। बनर्जी और पिकेरी के अनुसार, 1980 और 1990 के दशकों के दौरान कुल आबादी के ऊपरी एक फ़ीसदी हिस्से ने देश की कुल आमदनी में अपना हिस्सा बहुत अधिक बढ़ा लिया। 1980 के दशक में जहाँ इस पूरी 1 फ़ीसदी आबादी में से हर किसी को लाभ हुआ था, वहीं 1990 के दशक में सबसे ऊपर के 0.1 फ़ीसदी लोगों (यानी करीब 11 लाख) ने ही ज़्यादा लाभ बटोरा।

– देश की लगभग एक अरब दस करोड़ आबादी में से, अलग-अलग अध्ययनों के अनुसार, शासक वर्ग और उनसे नाभिनालबद्ध उच्च मध्यवर्ग से लेकर खुशहाल, मध्यम मध्य वर्ग तक की कुल आबादी, ज़्यादा से ज़्यादा, 15 से 20 करोड़ के बीच है। इनमें पूँजीपतियों, व्यापारियों, ठेकेदारों, शेयर दलालों, कमीशन एजेण्टों, कारपोरेट प्रबन्धकों, सरकारी नौकरशाहों, नेताओं, डॉक्टरों, इंजीनियरों, उच्च वेतनभोगी प्रोफ़ेसरों, मीडियाकर्मियों के ऊपरी संस्तर, अच्छी प्रैक्टिस वाले वकीलों को गिना जा सकता है। ग़ैरक़ानूनी आय और काले धन की समान्तर अर्थव्यवस्था से जुड़ी आबादी भी इनमें शामिल है। दस लाख लोग ऐसे हैं जिनकी मासिक आय 50 लाख रुपये या उससे ऊपर है। इस छोटी सी आबादी के लिए तमाम शॉपिंग मॉल्स, मल्टीप्लेक्स, बार-रेस्टोरेण्ट-होटल-रेसॉर्ट्स हैं, करोड़ों की कारों से लेकर 5-10 लाख की कारों और दोपहिया वाहनों के पचासों ब्राण्ड्स और मॉडल हैं, इसी उपभोक्ता समुदाय पर विज्ञापन बाज़ार के 95 प्रतिशत की निगाह है, इसी के बूते शेयर बाज़ार और मनोरंजन उद्योग का कारोबार चलता है, इसी के लिए खाने-पीने-पहनने-ओढ़ने की महँगी चीज़ों के सैकड़ों विकल्प हैं और यहाँ तक कि 30 लाख रुपये क़ीमत का सूट का कपड़ा भी है। शेष क़रीब 85 फ़ीसदी आबादी इस आबादी की ज़रूरतें पैदा करने के लिए, प्राय:, ज़िन्दा रहने की न्यूनतम शर्तों पर, समृद्धि के तलघर के अँधेरे में ज़िन्दगी बसर करती है। पूँजीवाद का जो नंगा तर्क उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में सामने आया था, वह "कल्याणकारी राज्य" के आवरण के तार-तार होने के साथ ही पूरी दुनिया में नंगा हो गया है। भारत में भी ऐसा ही हुआ है।

– नवउदारवादी नीतियों को लागू करते हुए उच्च वृद्धि दर हासिल करने वाले देशों में, विगत डेढ़ दशक के दौरान चीन और भारत का नाम दुनिया में सबसे ऊपर रहा है। इस तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि इन दोनों देशों में ऊँची आर्थिक संवृद्धि के साथ ग़रीबी का दायरा भी विस्तारित हुआ है और उसकी विकटता भी बढ़ी है। इन देशों की एक तिहाई से एक चौथाई के बीच आबादी अमानवीय और निपट ग़रीबी में ज़िन्दगी बसर कर रही है। भारत में निपट ग़रीबी से ग्रस्त आबादी गत दो दशकों के दौरान बेहद धीमी रफ़्तार से थोड़ी कम हुई है, पर अभी भी 30.3 करोड़ लोग घनघोर बदहाली का जीवन बिताते हैं। चीन में स्थिति थोड़ी बेहतर है। वहाँ निपट ग़रीबी से ग्रस्त आबादी 33 फ़ीसदी से घटकर 8 फ़ीसदी रह गयी है। यानी चीन में आबादी में ग़रीबों के अनुपात में क़रीब 45 फ़ीसदी बिन्दुओं की गिरावट आयी, जबकि भारत में ग़रीबों के अनुपात में 17 फ़ीसदी बिन्दुओं की ही गिरावट दर्ज हुई। लेकिन भारत की तुलना में अधिक तेज़ गति से आर्थिक संवृद्धि हासिल करने वाले चीन में ग़ैरबराबरी, यानी तुलनात्मक ग़रीबी भी भारत की अपेक्षा अधिक तेज़ रफ़्तार से बढ़ी है। कुछ अध्ययनों के अनुसार, चीन में (और पूर्व सोवियत संघ के घटक देशों में भी) अमीरों और ग़रीबों के बीच की खाई जिस रफ़्तार से बढ़ी है, वैसी लिखित आर्थिक इतिहास के किसी काल में शायद ही देखने को मिलती है। चीन की राष्ट्रीय आमदनी में आबादी के सबसे ग़रीब 20 फ़ीसदी लोगों का हिस्सा 5.9 फ़ीसदी है, जबकि भारत में 8.2 फ़ीसदी। यानी चीन और भारत में आमदनी के लिहाज़ से सबसे नीचे के 20 फ़ीसदी लोगों को अपने-अपने देशों की प्रति व्यक्ति औसत आमदनी का क़रीबन 30 और 40 फ़ीसदी हिस्सा ही मिलता है। लेकिन चीन की प्रति व्यक्ति औसत आमदनी भारत की तुलना में दोगुनी से भी ज़्यादा है। यानी भारत की निर्धनतम 20 फ़ीसदी आबादी चीन से सापेक्ष अर्थों में बेहतर स्थिति में है, लेकिन निरपेक्ष अर्थों में, यानी आमदनी की रक़म के लिहाज़ से बदतर स्थिति में है। यह तो तुलनात्मक अध्ययन की बात हुई, लेकिन वैश्विक परिप्रेक्ष्य में यदि बात करें तो आर्थिक सुधारों के लगभग दो दशकों के दौरान धनी-ग़रीब के बीच की खाई भारत और चीन में जिस रफ़्तार से बढ़ी है, वह अभूतपूर्व है और अतुलनीय है।

तब फिर मनमोहन-चिदम्बरम-मोण्टेक क्या कहेंगे अपने अठारह वर्ष पुराने उस दावे ('ट्रिकल डाउन थ्योरी') के बारे में कि जब समाज के शिखरों पर समृद्धि आयेगी तो वह नीचे तक पहुँच जायेगी। अब तक तो नतीजों की दिशा इन दावों के एकदम उल्टी ही दिखायी देती है। आँकड़े बोल रहे हैं, तथ्य आईना दिखा रहे हैं, सच्चाइयाँ चीख़ रही हैं। पर बेशर्मों का क्या? वे तो दावे करते ही रहेंगे, क्योंकि वे पूँजीपतियों के प्रबन्धक हैं। उनका यही काम है।

गालब्रेथ कोई समाजवादी नहीं था। वह एक बुर्जुआ अर्थशास्त्री ही था। उसने भी 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' का मज़ाक़ उड़ाते हुए कहा

(पेज 6 पर जारी)

बाल मज़दूरी का कारण गरीब माँ-बाप का लालच या बेबसी?

विद्वान प्रोफेसर जुत्शी साहब से दो बातें

अभी पिछले दिनों एक एन.जी.ओ. 'बचपन बचाओ आन्दोलन' की ओर से दिल्ली में एक संवाददाता सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें फुटबाल सिलने वाले बच्चों की दशा और दिशा पर चर्चा हुई। इस संवाददाता सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के एक विद्वान प्रोफेसर बी. जुत्शी ने फर्माया कि बाल मज़दूरी के लिए बच्चों के माता-पिता ही ज़िम्मेदार हैं जो अतिरिक्त आय के लिए अपने बच्चों को काम में लगा देते हैं।

विद्वान प्रोफेसर साहब के खयाल से गरीब माँ-बाप थोड़ा कम इंसान होते हैं, जो अपने बच्चों को प्यार नहीं करते, पढ़ा-लिखाकर उनका भविष्य नहीं सँवारना चाहते और "अतिरिद्र आमदनी" के लिए उनका वर्तमान और भविष्य उजरती गुलामी के अँधेरे में झोंक देना चाहते हैं।।

आदरणीय जुत्शी साहब, हम लोग बरसों से नोएडा, दिल्ली के असंगठित, गरीब मेहनतकश आबादी के बीच काम कर रहे हैं। पिछले दिनों गाज़ियाबाद, नोएडा और दिल्ली की मज़दूर बस्तियों से गायब होने वाले बच्चों के बारे में जाँच-पड़ताल करने और रिपोर्ट तैयार करने के दौरान हमें मज़दूर बस्तियों के बच्चों के जीवन के बारे में कुछ और अधिक गहराई से जानने का अवसर मिला। हम आपको यकीन दिलाना चाहते हैं कि गरीब मज़दूर भी सामान्य इंसान होते हैं और शायद समृद्धि के चकाचौंध भरे अतिरेक में जीने वालों से अधिक इंसान होते हैं। चन्द एक अपवादस्वरूप, विमानवीकृत (डीह्यूमनाइज्ड) शराबखोर चरित्रों को छोड़ दें, तो हर गरीब अपने बच्चे को किसी भी तरह से पढ़ाना-लिखाना चाहता है और सुरक्षित भविष्य देना चाहता है। वह उसे उजरती गुलामी के रसातल से बाहर निकालना चाहता है, पर ठोस हकीकत की चट्टान से सिर टकराकर समझ जाता है कि मज़दूर का बच्चा भी 85 फीसदी मामलों में मज़दूरी करने के लिए ही पैदा होता है। जुत्शी साहब, इस सच्चाई को तो डेढ़ सौ साल पहले कार्ल मार्क्स ही नहीं, बहुतेरे बुर्जुआ यथार्थवादी साहित्यकार भी समझ चुके थे कि मज़दूर अपनी श्रम शक्ति बेचकर सिर्फ उतना ही हासिल कर पाते हैं कि श्रम करने के लिए ज़िन्दा रहें और मज़दूरों की नयी पीढ़ी पैदा कर सकें। आप शायद मंगल ग्रह से आये हैं या ज्यादा किताबें पढ़ लेने से ज़िन्दगी की हकीकत आपकी नज़रों से ओझल हो गयी है। नोएडा और दिल्ली में 40 रुपये से साठ रुपये की दिहाड़ी पर औरत-मर्द मज़दूर आठ, दस या कहीं-कहीं बारह घण्टे काम करते हैं। सिंगल रेट पर कभी-कभार ओवरटाइम मिल जाता है तो महीने में कई दिन बेकारी के भी होते हैं। मालिक या ठेकेदार की ओर से शिक्षा, स्वास्थ्य या आवास की कोई सुविधाा नहीं होती। इन हालात में, पति-पत्नी दोनों लगातार काम करने के बाद मुश्किल से दो जून की रोटी, झुग्गी का किराया, कुछ कपड़े आदि की जरूतें पूरी कर पाते हैं। कर्ज लिये बिना दवा-इलाज नहीं हो पाता और फिर उस कर्ज को चुकाने का सिलसिला चलता रहता है। इन हालात में मुश्किल से ही मज़दूरों के बच्चे दो जून की रोटी खा पाते हैं। सरकारी स्कूल में पढ़ने के लिए भी पेट में रोटी तो होनी चाहिए ही! क्या आप इन आँकडों से परिचित नहीं हैं कि अस्सी फीसदी से भी अधिक मज़दूरों के बच्चे कुपोषण के शिकार होते हैं। आपका जो नज़रिया है, उसके हिसाब से तो शायद गरीब लोग पैसा बचाने के लिए अपने बच्चों को रोटी नहीं देते! नहीं, प्रोफेसर महोदय, ऐसा नहीं है। जब हड्डियाँ गलाकर भी मज़दूर बच्चे को भरपेट भोजन, तन पर कपड़ा और बीमारी में दवा नहीं दे पाता तो कलेजे पर सिल रखकर यह तय करता है कि कप-प्लेट धोकर, सामान ढोकर, गाड़ियाँ साफकर या फुटबाल सिलकर शायद बच्चा ज़िन्दा रह सके और ज़िन्दगी की कोई बेहतर राह निकाल सके। उसके सामने कई विकल्प नहीं, बल्कि एकमात्र विकल्प होता है और वह उसे चुनने के लिए विवश होता है।

दूसरी बात आपको और बतायें जुत्शी साहब! कुछ मज़दूर यदि बच्चों को पढ़ा पाने की स्थिति में होते भी हैं तो यह भली-भाँति जानते हैं कि उनके बच्चे आप जैसों के बच्चों के समान डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, वकील तो दूर म्युनिसिपैलिटी के क्लर्क भी शायद ही बन पायें ऐसी स्थिति में वे उन्हें जल्दी ही मज़दूरी के काम में लगा देना चाहते हैं ताकि उसी में हुनरमन्द होकर शायद वे थोड़ा बेहतर जीवन जी सकें।

जुत्शी साहब, जरा इतिहास का अध्ययन कीजिए। पूँजीवाद की बुनियाद ही स्त्रियों और बच्चों के सस्ते श्रम को निचोड़कर तैयार हुई थी। बीच में मज़दूरों ने लड़कर कुछ हक हासिल किये थे। अब बीसवीं सदी की मज़दूर क्रान्तियों की हार और मज़दूर आन्दोलन के गतिरोध के बाद, नवउदारवादी दौर में, पूँजी की डायन एक बार फिर सस्ती श्रम शक्ति की तलाश में पूरी पृथ्वी पर भाग रही है और असंगठित, दिहाड़ी, ठेका मज़दूरों - विशेषकर स्त्रियों और बच्चों की हड्डियाँ निचोड़ रही है। "कल्याणकारी राज्य" हवा हो गया है! श्रम कानूनों और जीने के अधिकार का कोई मतलब नहीं रह गया है। ऐसी सूरत में पूँजीवादी लूट का अंधा-अमानवीय तर्क उस सीमा तक आगे न बढ़ जाये कि लोग जीने के लिए विद्रोह पर आमादा हो जायें, इसके लिए विश्वस्तर पर साम्राज्यवादी फण्डिंग से एन.जी.ओ. नेटवर्क खड़ा किया गया है जो पूँजीवादी बर्बरता को सुधार के रेशमी लबादे से ढँकने, पूँजीवादी जनवार की तार-तार हो रही चादर की पैबन्दसाज़ी करने और भड़कते जनाक्रोश पर कुछ पानी के छींटे मारने का काम करता है। ये तमाम एन.जी.ओ. पूँजीवादी व्यवस्था के बजाय जनता को ही, उसकी तमाम बदहालियों के लिए दोषी ठहराते हैं और धर्म-प्रचारकों की तरह उसके उत्थान की बातें करते रहते हैं। 'बचपन बचाओ आन्दोलन' भी एक ऐसा ही एन.जी.ओ. है। कैलाश सत्यार्थी और 'बचपन बचाओ आन्दोलन' का एक और उद्देश्य होता है। पिछड़े देशों के पूँजीपति अपने देशों के बच्चों के सस्ते श्रम के चलते उत्पादित माल को सस्ते में बेचकर साम्राज्यवादी देशों के पूँजीपतियों के सामने कुछ क्षेत्रें में प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति पैदा कर देते हैं, इसलिए इन धनी देशों के पूँजीपति एक ओर तो खुद भी पिछड़े देशों को अपना 'मैन्यूफैक्चरिंग हब' बनाना चाहते हैं, दूसरी ओर वे अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियो और वित्तपोषित एन.जी.ओ द्वारा तीसरी दुनिया के देशों में बाल श्रम पर प्रतिबन्ध के लिए आवाज़ उठाकर इन देशों के पूँजीपतियों को प्रतिस्पर्द्धा से बाहर करने की कोशिश भी करते रहते हैं। 'बचपन बचाओ आन्दोलन' को धनी देशों की फण्डिंग एजेंसियों से पैसा किसलिए और क्यों मिलता है, इसे आप न जानते हों, इतने मासूम भी तो आप नहीं होंगे जुत्शी साहब!

अतिरिक्त आय!! क्या बात है!! जुत्शी साहब, आपके लिए अतिरिक्त आय का मतलब है नये बंगले, कार, छुट्टियों में विदेश यात्रा या सम्पत्ति बढ़ापे के लिए, या फिर शेयर में लगाकर पैसे से पैसा बनाने के लिए कुछ धन जुटा लेना। पर गरीब के लिए अतिरिक्त आय का मतलब बचत नहीं, बल्कि अभावों के तनाव और बुनियादी जरूरतों के बोझ से थोड़ी सी राहत पा लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। पर आप जैसे प्रोफेसर लोग जो हफ्ते में तीन-चार क्लास लेकर साल में छह माह पढ़ाते हैं और महीने में 30-35 हज़ार रुपये उठाते हैं, वे इस बात को नहीं समझ सकते। समृद्धि की मीनार की किसी मंज़िल पर रहते हुए उसके तलघर के अँधेरे को देख पाना सम्भव भी नहीं होता।

जुत्शी साहब, आप तो शायद यही सोचते होंगे कि गरीबों के बच्चे ही अपने घरों से भागकर महानगरों के अपराधियों के हत्थे चढ़ जाते हैं, चोर-मवाली-पॉकेटमार-भिखमंगे और नशेड़ी बन जाते हैं, उन्हें बेच दिया जाता है, उनके अंगों की तस्करी की जाती है, इसमें दोष गरीबों का ही है। आप शायद सोच भी नहीं सकते हैं कि समृद्धि की चकाचौंध और अमीरों के बच्चों को मिले ऐशो-आराम को तिल-तिल करके अभाव में जीते गरीबों के बच्चे किस निगाह से देखते हैं और उनके दिलो-दिमाग पर क्या प्रभाव पड़ता है। आप शायद यह नहीं जान सकते कि पूरी दुनिया के लिए जीने की बुनियादी चीज़ें उत्पादित करने वाले जिन लोगों को इंसान की तरह जीने के लिए न्यूनतम चीज़ें भी मयस्सर नहीं होतीं, उनके घरेलू और सामाजिक परिवेश में किस कदर विमानवीकरण का घटाटोप होता है। इस अभाव और विमानवीकरण के परिवेश में घुटने वाले मासूम यदि घरों से भाग जाते हैं तो इसके लिए उनके बेबस माँ-बाप नहीं बल्कि यह सामाजिक ढाँचा और राजनीतिक व्यवस्था ज़िम्मेदार होती है।

पर ये बातें आपको बताने का फायदा ही क्या? आप इन्हें नहीं समझ सकते, क्योंकि सबकुछ समझकर न समझने वाले की समझ तो हकीम लुकमान भी नहीं बढ़ा सकते!

– तपीश मैन्दोला

नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष : समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा

था, घोड़े को चाहे कुछ भी खिलाओ, पीछे से वह लीद ही निकालेगा। 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' की आड़ में पूँजीपतियों को चाहे जितनी भी छूटें दी जायें और मुनाफ़ा कूटने का अवसर दिया जाये, वे मज़दूरों को उतना ही देंगे ताकि वे उनके कारख़ानों में हड्डियाँ गला सकें और हड्डियाँ गलाने वाले मज़दूरों की नयी पीढ़ी पैदा कर सकें। पूँजीवाद का बुनियादी तर्क ही ऐसा है कि वह धनी ग़रीब के बीच के अन्तर को बढ़ाता है, क्षेत्रीय असमानता बढ़ाता है, कृषि और उद्योग के बीच का अन्तर बढ़ाता है और गाँव और शहर के बीच का अन्तर बढ़ाता है। कीन्सियाई नुस्ख़ों का दौर समाप्त होने और सभी सार्वजनिक कामों से राज्य के किनारा कर लेने के बाद जीवन का हर क्षेत्र अब पूँजी लगाकर लाभ कमाने के लिए खुल गया तो धनी-ग़रीब के बीच के ध्रुवीकरण को और अधिक तेज़ गति से बढ़ना ही था।

पूँजीवाद के अन्तर्गत सामाजिक शिखरों पर जो समृद्धि आती है और जो पूँजी का अम्बार इकट्ठा होता है, वह नीचे के मेहनतकशों के अतिरिक्त श्रम को निचोड़कर ही इकट्ठा होता है। यानी नीचे के संस्तरों को निचोड़कर, कंगाल बनाकर ऊपर के शिखरों पर समृद्धि आती है। 'ट्रिकन डाउन थ्योरी' इस सच्चाई को एकदम उलटकर पेश करती है। क्लासिकी बुर्जुआ अर्थशास्त्र के विपरीत, यह सच्चाई को अपने वर्गीय कोण से प्रस्तुत करने के बजाय उसे एकदम उलट देती है, क्योंकि आज पूँजीवाद इसी झूठ के सहारे अपने को सही ठहरा सकता है।

यह दो कौड़ी का बाज़ारू आर्थिक सिद्धान्त (जिसके समर्थक मनमोहन सिंह को हमारे देश में एक बड़ा अर्थशास्त्री माना जाता है) शिकागो स्कूल के कुछ भाड़े के टट्टू अर्थशास्त्रियों द्वारा गढ़ा गया था, इनमें जेबी से नाम का अर्थशास्त्री प्रमुख था जिसकी दो प्रमुख स्थापनाएँ थीं। पहली यह कि, माल की आपूर्ति स्वयं अपनी माँग पैदा करती है (इस स्थापना को अमेरिका के सबप्राइम संकट और मौजूदा विश्वव्यापी मन्दी ने सिरे से ग़लत सिद्ध कर दिया है), और दूसरी यह कि अमीरों को छूट व सुविधाएँ देने पर इनका लाभ रिस-रिसकर नीचे ग़रीबों तक जा पहुँचता है। नवउदारवाद के दो दशकों के नतीजे इस स्थापना को भी ग़लत सिद्ध करते हैं। हेनरी लियू एक बुर्जुआ अर्थशास्त्री ही हैं, पर उन्होंने भी 'एशिया टाइम्स' में लिखा है : "हरेक जगह बाज़ार कट्टरता के ढहने से अब शिकागो स्कूल का सिद्धान्त कटघरे में खड़ा हो गया है। इसके बड़े झूठ तथ्यों द्वारा दो स्तरों पर बेनक़ाब हुए हैं। शिकागो स्कूल के अनुयाइयों का यह कथन कि अमीरों की मदद से ग़रीबों का भला होगा, न केवल बेनक़ाब हो गया है, बल्कि यह भी साफ़ हो गया है कि बाज़ार कट्टरता न केवल ग़रीबों और कमजोरों को बरबाद करती है, बल्कि दूसरे प्रकार से यह अमीरों को भी नहीं छोड़ती। मुद्रास्फीति से लड़ने के लिए मज़दूरी को कम रखा जाता है। यह अधिक मुनाफ़े के ज़रिये अधिक निवेश और फिर अतिउत्पादन का संकट पैदा करती है। कम मज़दूरी के चलते बाज़ार में माँग ख़त्म हो जाती है।"

पूँजीवाद का असाध्य ढाँचागत संकट मनमोहन-मोण्टेक-चिदम्बरम को आर्थिक मसलों पर भी इस गोयबल्स फ़ार्मूले को लागू करने के लिए बाध्य कर रहा है कि एक झूठ को सौ बार बोलने पर वह सच हो जाता है। अभी भी यह तिकड़ी 'ट्रिकल डाउन थ्योरी' का हवाला देने से बाज नहीं आती। पर 'शिकागो स्कूल' से आयातित आर्थिक सिद्धान्त के इस घटिया माल का ख़रीदार मिलना मुश्किल है, क्योंकि अठारह वर्षों के अनुभव ने नवउदारवादी पूँजीवादी नीतियों को एकदम नंगा कर दिया है। और अब वर्तमान विश्वव्यापी मन्दी का जारी सिलसिला जो नतीजे सामने लाने वाला है, उससे रही-सही कोर-कसर भी पूरी हो जायेगी।

आधुनिक राज्यों के बुनियादी कानूनों को देखिये, उनके प्रशासन, सभा करने की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता, या "कानून के समक्ष सभी नागरिकों की स्वतंत्रता" को देखिये, और हर कदम पर आप बुर्जुआ जनतंत्र के उस पाखण्ड को पायेंगे जिससे हर ईमानदार और वर्ग-सचेत मज़दूर वाकिफ़ होता है। एक भी ऐसा राज्य नहीं है, चाहे वह जितना भी जनतांत्रिक क्यों न हो, जिसके संविधान में ऐसे छेद या विशेष स्थितियाँ न हों जो "कानून-व्यवस्था के उल्लंघन" की स्थिति में बुर्जुआ वर्ग को मज़दूरों के विरुद्ध सैनिक भेजने, मार्शल लॉ लागू करने, आदि की गारण्टी न देती हों। वास्तव में यह उल्लंघन तब होता है जब मज़दूर वर्ग अपनी गुलामी की अवस्था का "उल्लंघन" करता है और गुलामों के ढंग से बरताव करने से इंकार कर देता है।

– लेनिन

चीन के "बाज़ार समाजवाद" की नंगी असलियत को पहचान रहे युवा मज़दूरों में बढ़ रही है वर्ग चेतना

शोषण-उत्पीड़न और बदहाली के बीच परिवर्तन के संकेत देता शेंज़ेन

आज पूरी दुनिया में बुर्जुआ मीडिया चीन की अभूतपूर्व विकास दर और "बाज़ार समाजवाद" की उपलब्धियों का ख़ूब डंका पीट रहा है, लेकिन वह इस तथ्य को यथासम्भव दृष्टि ओझल करने की कोशिश करता है कि यह विकास-दर मज़दूरों-किसानों की भयंकर बदहाली, तबाही और भुखमरी की कीमत पर हासिल की जा रही है। एक ओर जहाँ चीनी समाज में अरबपतियों और करोड़पतियों की संख्या तेज़ी से बढ़ रही है, वहीं फैक्टरियों के मज़दूर और कम्यूनों की सामूहिक खेती की व्यवस्था के टूटने से उजड़ने वाले किसान निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलामों की ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं।

चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना होने के बाद से वहाँ की स्थितियों के बारे में अनेक महत्वपूर्ण लेख और पुस्तकें लिख चुके राबर्ट वील के एक लेख 'शेंज़ेन : सिटी ऑफ़ यूथ' के आधार पर हम बिगुल के पाठकों के लिए वहाँ मज़दूरों के भयंकर शोषण-उत्पीड़न और साथ ही उनके बीच बढ़ती वर्ग-चेतना की एक तस्वीर प्रस्तुत कर रहे हैं। यह लेख स्पष्ट कर देता है कि चीन की मेहनतकश जनता अपनी दुरवस्था को नियति मानकर झेलते रहने के लिए कतई तैयार नहीं है। चीनी समाज में पूँजीवादी विपर्यय के बाद तेजी से बढ़ता वर्ग ध्रुवीकरण यहाँ-वहाँ स्थानीय और क्षेत्रीय स्तरों पर वर्ग संघर्षों के रूप में लगातार फूटता रहा है। यह सिलसिला अब लगातार व्यापक और गहरा होता जा रहा है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस वर्ग संघर्ष को दिशा देने वाली विचारधारा और मनोगत शक्तियाँ भी, चाहे बिखरे रूप में ही सही, लेकिन परिदृश्य पर मौजूद हैं। स्थितियाँ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के अन्तिम वर्षों के दौरान की गयी माओ की इस भविष्यवाणी को सत्यापित कर रही है कि "चीन में यदि पूँजीवादी पथगामी पूँजीवाद की पुनर्स्थापना में सफल हो भी गये तो वे कभी चैन से कुर्सी पर नहीं बैठ सकेंगे।" दस वर्षों तक चलने वाली चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने चीन की मेहनतकश जनता को समाजवादी समाज की दीर्घकालिक संक्रमणशील प्रकृति, उसमें जारी वर्ग-संघर्ष की दिशा, पार्टी और राज्य में पूँजीवादी पथगामियों की मौजूदगी और पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लम्बे समय तक मौजूद रहने वाले ख़तरे के बारे में गहराई से शिक्षित किया था और यह स्पष्ट बताया था कि चीन में यदि पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो जाती है तो चीनी जनता को अविलम्ब पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ देना चाहिए। अब हालात बता रहे हैं कि चीनी जनता ने सांस्कृतिक क्रान्ति की शिक्षा को भुलाया कत्तई नहीं था। राबर्ट वील का यह लेख भी बताता है कि चीन के युवा मजदूर और बुद्धिजीवी समाजवाद के लिए संघर्ष में एक बार फिर से सन्नद्ध होते हुए माओ की अनश्वर शिक्षाओं और सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के महान प्रयोग की ओर देख रहे हैं।

पूँजीवाद के राजपथ पर दौड़ रही चीन के "बाज़ार समाजवाद" की गाड़ी, चीनी शासक वर्ग की तमाम कोशिशों के बावजूद, हिचकोले खाते हुई बढ़ रही है। रंग-रोगन और इंजन की मरम्मत कराने के सारे प्रयासों के बावजूद "बाजार समाजवाद की गाड़ी" के इंजन का शोर (मज़दूरों-किसानों के असंतोष-आक्रोश और विरोध-प्रदर्शन) साफ सुनायी दे रहा है। यानी मेहनतकशों की लूट पर फलते-फूलते शेंजेन जैसे शहरों में मजदूरों की बर्बादी और आक्रोश, दोनों ही, चीनी सत्ता की तमाम सेंसरशिप के बावजूद कई तरीकों से दुनिया के सामने आ रहे हैं। राबर्ट वील की एक रिपोर्ट पर आधारित यह लेख मेहनतकशों के ख़ून-पसीने, सपनों-आकांक्षाओं के कत्ल की बुनियाद पर टिके शेंजेन जैसे हाइटेक शहर में शोषण-तबाही के साथ मज़दूरों में बढ़ते आक्रोश, विकल्प की तलाश, माओकालीन चीन के बढ़ते समर्थन और मज़दूरों की बढ़ती क्रान्तिकारी चेतना एवं एकजुट होने के संगठित प्रयासों का संकेत देता है।

हाँगकाँग के उत्तरी हिस्से से सटे चीन के गुआङदाङ प्रान्त का शेंज़ेन शहर, आज से लगभग 25 वर्ष पहले तक मछली पालन पर आधारित एक छोटा सा गांव था। लेकिन माओ की मौत के बाद समाजवाद का चोगा ओढ़े संशोधनवादी देङ सिआओ पिङ ने 1980 में इसे चीन के पहले विशेष आर्थिक क्षेत्र यानी सेज़ (स्पेशल इकोनॉमिक ज़ोन) में तब्दील कर दिया। और इसी के साथ देशी-विदेशी पूंजीपतियों को मिली, सस्ते श्रम की लूट, मज़दूरों के शोषण-उत्पीड़न और अंधाधुंध मुनाफा बटोरने की छूट।

पूंजीवाद की मार से चौड़ी होती गाँव-शहर के बीच की खाई

इसी लूट-खसोट, शोषण-उत्पीड़न की नींव पर शेंजेन दिनों दिन समृद्ध होता गया और मात्र पच्चीस वर्षों की छोटी सी अवधि में यह शहर चीन के सबसे हाइटेक और सबसे ज्यादा कमाई करने वाले शहर में तब्दील हो गया। कभी छोटे से गांव रहे शेंजेन में 13 गगनचुंबी इमारतें हैं जो 200 मीटर से अधिक ऊँची हैं। यहां देश-विदेश की कई नामी कंपनियों के शोषणगृह (उत्पाद संयंत्र) है और चीन के विशालतम बैंकों में से एक चाइना मर्चेंट्स बैंक का मुख्यालय भी यहीं है। मेहनतकशों के बर्बर शोषण से पैदा हुई शेंजेन की दौलत चीन के अन्य किसी शहर से कई गुना अधिक है। इसके सकल घरलू उत्पाद से होने वाली आय का 50 फीसदी, यहां मौजूद देशी-विदेशी कंपनियों के हिस्से में आता है, जबकि मज़दूरों के हिस्से में 30 (सरकारी आंकड़े के अनुसार ही जिनकी कुल संख्या औसतन 90 लाख है) और राज्य के हिस्से में पंद्रह फीसदी आता है। शेंज़ेन की गिनती चीन के सबसे अमीर शहर में होती है। वर्ष 2004 की एक रिपोर्ट के अनुसार इसकी औसत आय 23,544 युआन (चीनी मुद्रा) थी, जोकि चीन के अन्य सभी शहरों की आय 12,216 युआन से लगभग दोगुनी है।

इसके विपरीत सबसे कम औसत वाली ग्रामीण आय वर्ष 2005 में मात्र 2,500 युआन प्रति वर्ष के करीब थी। शेंजेन में आने वाले और काम कर रहे मज़दूरों में 95 फ़ीसदी वे युवा हैं, जो पूँजी की मार से पारम्परिक खेती की तबाही और अत्याधुनिक तकनीकों, मशीनों और कीटनाशकों के प्रयोग से फार्महाऊस खेती की बढ़ती उत्पादकता एवं श्रम की घटती मांग के कारण ग्रामीण इलाकों से निकलने को मजबूर हुए है और दस करोड़ से अधिक संख्या में शहर की ओर प्रवर्जन करती आबादी का हिस्सा बन चुके हैं। ये निर्माण कार्यों, नयी निर्यातोन्मुख फैक्ट्रियों या अन्य सबसे खतरनाक और गन्दे कामों में रोजगार तलाश करते हैं जहाँ उन्हें बुनियादी अधिकार भी हासिल नहीं होते।

ग्रामीण आय से शेंज़ेन की आय की तुलना करने, लाखों की संख्या में ग्रामीण युवकों के प्रवास और तबाह होती कृषि के जरिए गाँव-शहर के बीच बढ़ती खाई और खेती में पूँजी की बर्बर घुसपैठ को आसानी से समझा जा सकता है। इसी से यह भी पता चलता है कि शेंज़ेन और उसके जैसे अन्य शहरों की समृद्धि की मीनार मज़दूरों-किसानों के शोषण, उत्पीड़न और तबाही-बर्बादी की नींव पर टिकी है।

सपनों-आकांक्षाओं और स्वास्थ्य की कब्रगाह

शेंज़ेन में मौजूद कई विशाल उपक्रम अपने-आप में एक शहर के समान हैं। इन्हीं में से एक है ताइवान की कंपनी फॉक्सकॉन इलेक्ट्रॉनिक्स। अमेरिकी कम्पनियों के लिए कई इलेक्ट्रॉनिक सामान के निर्माण के साथ-साथ फॉक्सकॉन इलेक्ट्रॉनिक्स, एप्पल कम्पनी के लिए आईपॉड और डेल के लिए मदरबोर्ड भी बनाती है। 1993 से शेंज़ेन में काम कर रही इस कम्पनी में कुल 2,40,000 मज़दूर एवं अन्य कर्मचारी काम करते हैं। निकट भविष्य में यह संख्या 3,00,000 होने की सम्भावना है। वर्ष 2.07 करोड़ डॉलर के उत्पादों के निर्यात किया था। शेंज़ेन के उपनगर लांगहुआ स्थित फॉक्सकॉन का फैक्ट्री परिसर इलेक्ट्रॉनिक पुर्जों का उत्पादन करने वाला दुनिया का सबसे बड़ा परिसर है। उत्पादन प्लाण्ट, प्रशासकीय कार्यालयों और आवासी परिसरों वाला इसका यह 'छोटा-शहर' कई वर्ग मील के क्षेत्र में फैला है।

लेकिन यह तस्वीर का एक पहलू है। दूसरे स्याह पहलू का पता, इस 'छोटे-शहर' में मज़दूरों के लिए बनाये गये रैनबसेरों और निजी अपार्टमेण्ट एवं फैक्ट्री गेट में प्रवेश करते-वहाँ से निकलते मज़दूरों के रेले का देखकर लगता है। ये रैन बसेरे और अपार्टमेण्ट बेहद भद्दे और गन्दे दिखते हैं। एक परिसर में लगभग पाँच हज़ार महिला या पुरुष मज़दूर रहते हैं और ऐसे कुल 48 परिसर हैं। रैनबसेरे के एक कमरे में कम से कम छह-सात और इससे अधिक 12 मज़दूर तक रहते है। इसकी वजह से कमरे में इतनी घिच-पिच और शोर-शराबा होता है कि तेरह-चौदह घण्टे हाड़-तोड़ श्रम के बाद मज़दूर ठीक से सो भी नहीं पाते हैं। ना तो वे अपने कमरे में खाना बना सकते हैं और ना ही खाना गरम कर सकते हैं। किसी बाहरी व्यक्ति को रैनबसेरों में आने की अनुमति नहीं है, चाहे वे मज़दूर के सगे-सम्बन्धी ही क्यों न हों। फॉक्सकॉम में काम करने वाले ज्यादातर मज़दूर ऐसे ही रैनबसेरों में समय काटते हैं।

इन रैनबसेरों में गर्मी से राहत का कोई इंतज़ाम नहीं होता, जबकि फैक्ट्री वातानुकूलित होती है। इसलिए गर्मियों के मौसम में भीषण ताप से बचने के लिए अधिकांश मज़दूर अपना ज्यादा समय फैक्ट्री में काम करते हुए गुज़ारने को ही प्राथमिकता देते हैं। ज़ाहिर है, इसकी एवज़ में उन्हें कम्पनी की ओर से ओवरटाइम नहीं मिलता है।

यहाँ लगातार तेरह-चौदह घण्टे काम करने के बाद भी मज़दूरों की न्यूनतम पगार केवल 1,000 युआन तक हो सकती है, जिसमें ओवरटाइम शामिल है, लेकिन "मुफ़्त" भोजन और आवास नहीं। नानुकुर किये बिना इस शोषण की चक्की में पिसने के लिए पहली भर्ती के समय मज़दूरों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है, जिसे सुपरवाइज़रों की भाषा में "सैन्य प्रशिक्षण" कहा जाता है। इसका उद्देश्य साफ़-तौर पर नये "रंगरूटों" को औद्योगिक अनुशासन के लिए तैयार करना होता है। इन विशाल कम्पनियों में निचोड़कर काम कराने का आलम यह है कि पिछले दिनों, ह्यूवेई जैसी बड़ी कम्पनी मे एक वर्ष से काम करने वाले एक पच्चीस वर्षीय सॉफ्टवेयर इंजीनियर की मौत अधिक काम के दबाव के कारण हो गयी थी।

फॉक्सकॉम जैसी बड़ी कम्पनियों से इतर छोटी-छोटी कम्पनियों में काम की स्थिति और भी भयावह है। शहर के पश्चिमी सेक्टरों में स्थित कई छोटी कम्पनियों में रेडीमेड कपड़ों, खिलौनों और ऐसे ही अन्य उपभोक्ता सामान तैयार किये जाते हैं। इन फैक्ट्रियों की ओर से दिये जाने वाले विज्ञापनों में केवल मज़दूरों की माँग की जाती है। अधिकांश महिला मज़दूर दूरदराज के ग्रामीण इलाकों से आती हैं, जहाँ पुरुषों द्वारा उन्हें दबाया जाना आम बात है। इन्हें पुरुष मज़दूरों की तुलना में अधिक आज्ञाकारी और अधिकारों के बारे में कम सचेत माना जाता है। भर्ती के तुरंत बाद इनके शोषण का चक्र शुरू होता है, जिसमें काम के अधिक घण्टे, काम करने और रहने की खराब स्थितियाँ, फॉक्सकॉम एवं उसके जैसी अन्य बड़ी कम्पनियों से अधिक कड़ा अनुशासन और यौन शोषण शामिल हैं।

ऐसी फैक्ट्रियों में और उन फैक्ट्रियों में जहाँ पुरुष मज़दूरों की अधिक संख्या है, 800 युआन प्रति माह तक की पगार दी जाती है, जिसमें से 20 से तीस युआन रैनबसेरे के किराये में चली जाती है। गाँवो से उमड़ते बेरोजगारों के सागर की वजह से मालिकान हमेशा ऊपर के पायदान पर रहते हैं और कम से कम मज़दूरों से ज्यादा से ज्यादा काम कराने के तरीके तलाशते रहते हैं। यही वजह है कि कई बार युवा मज़दूरों को एक-एक महीने काम नहीं मिल पाता और वे बुरी से बुरी स्थिति में काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं। कुछ प्लाण्ट ऐसे ही मज़दूरों की भर्ती करते हैं और 580 युआन महीने की पगार पर उन्हें रखते हैं, जिसमें से 200 युआन भोजन और आवास के लिए काट लिये जाते हैं।

शेंजेन की चमक-दमक के पीछे की ज़िन्दगी की तस्वीर को और स्पष्ट करती है नवम्बर 2006 की घटना। इसमें एक जाँच के दौरान एक ही इलेक्ट्रॉनिक प्लाण्ट, यॉङ हॉङ, में सोलह वर्ष से कम आयु के दो सौ बच्चे काम करते पाए गये। इनमें से अधिकतर बच्चों को गर्मियों की छुट्टियों में काम करने के लिए इस प्लाण्ट में लाया गया था, जोकि इनके स्कूल की बकाया फीस की वसूली के लिए स्कूल और प्लाण्ट के मालिक के बीच एक समझौते के तहत किया गया। वास्तव में वे बच्चे वहां कैद होकर घण्टों काम करने को मजबूर थे। इससे पहले शांग्ज़ी और हेनान प्रान्त के ईंट-भट्ठों और कोयला खदानों में बंधुआ मज़दूरी कराने का पता चला था। इनमें से अधिकांश किशोरवय या कम आयु के थे, कुछ को अगुवा किया गया था और कुछ मानसिक विक्षिप्त थे, तो कुछ को बुरी तरह प्रताड़ित किया गया था या शारीरिक दुर्व्यवहार किया गया था।

इसके अतिरिक्त मज़दूरों के मनोरंजन के नाम पर यहां केवल अश्लील फ़िल्मों की सीडी, मसाज पार्लर या कुछ अमेरिकी धारावाहिकों के चीनी भाषांतर मौजूद हैं। ज्यादा से ज्यादा काम कराने के लिए 'गद्दा' संस्कृति को प्रोत्साहन दिया जाता है। यानी हर मजदूर अपने कार्यस्थल पर एक गद्दा रखे, काम समाप्त होने के बाद उसी पर आराम कर ले और जागने के बाद फिर काम पर जुट जाये। उसकी अपनी कोई जिन्दगी नहीं।

समाजवाद के दौर में मिले तमाम अधिकार छिन चुके हैं

शेंज़ेन में काम करने वाले मज़दूरों के हितों में कुछ कानूनी अधिकार हैं। लेकिन वे भी किसी एक कम्पनी में लगातार दस वर्ष तक काम करने के बाद ही लागू होते हैं। उस पर भी जो मज़दूर वास्तव में बीमा, चिकित्सा, पेंशन या काम नहीं

(पेज 8 पर जारी)

शोषण-उत्पीड़न और बदहाली के बीच परिवर्तन के संकेत देता शेंज़ेन

(पेज 7 से आगे)

होने पर पगार के कुछ हिस्से के कानूनी अधिकार का दावा करते हैं उन्हें अक्सर निकाल बाहर किया जाता है। यहाँ तक कि कुछ मज़दूर इन कानूनों को नहीं मानने की बात मालिक के सामने करते हैं, ताकि वे लगातार काम कर सकें और केवल जिंदा रहकर मालिक की तिजोरी भरते रहें। कुछ मामलों में कर्मचारियों को नौ साल या उससे कम अवधि में ही कम्पनी से निकाल दिया जाता है, ताकि दस वर्ष काम के बाद मिलने वाले कानूनी अधिकारों का झमेला भी नहीं रहे। और इससे तकनीशन और उच्च वेतन प्राप्त मैनेजर भी अछूते नहीं रहते। इस कानूनी दाँव-पेंच में सरकारी अधिकारी और कम्पनियों की मिलीभगत होती है। एक मज़दूर से पूछा गया कि जब नियम मानने ही नहीं हैं, तो उसके अनुसार शहर के लिए ये नियम बनाये ही क्यों गये? इस पर उसका जवाब था कि यह मज़दूर वर्ग को धोखा देने के प्रयास की एक और कड़ी है और सरकार एवं मालिकान 'एक ही थैले के चट्टे-बट्टे' हैं। वैसे भी वार्षिक विकास दर 10 प्रतिशत से अधिक बनाये रखने के लिए 90 फीसदी विदेशी स्वामित्व वाली कम्पनियों और विदेशी निवेश की मुख्य भूमिका के कारण सरकार के लिए मालिकों को खुश रखना ज्यादा जरूरी होता है। इस वजह से कथित-नियम कानून भी ताक पर रख दिये जाते हैं। यही वजह है कि फॉक्सकॉन और उसके जैसी अन्य कम्पनियाँ मज़दूरों का बर्बर शोषण करने के लिए मुक्त होती हैं, जिसकी वजह से उन्हें 'खून और पसीने' की कम्पनियाँ भी कहा जाता है।

प्रवासी मज़दूरों की पगार रोक लेना तो यहाँ का आम चलन है। एक प्रवासी मज़दूर ने चार महीने से कम्पनी द्वारा तनख्वाह नहीं देने की शिकायत की तो उसे काम पर आने से रोक दिया गया। नियम-कानून के मामले में कोई सुनवाई नहीं होने पर निर्माण क्षेत्र में काम कर रहे मज़दूरों द्वारा क्रेन से लटक कर आत्महत्या करने के भी कुछ मामले सामने आ चुके हैं। बाद में सरकार ने दिखावे के लिए कुछ कानूनी प्रक्रियानुमा कुछ शुरू भी किया लेकिन उसकी भी असलियत जल्द ही मज़दूरों के सामने एक जगह से दूसरी जगह भटकने के रूप में सामने आ गयी। फॉक्सकॉन जैसी कम्पनियों में भी शिकायत की सुनवाई की जाती है, लेकिन समस्या को दूर किये जाने की कोई गारण्टी नहीं और उस स्थिति में भी कानूनी तौर पर कुछ नहीं किया जा सकता। पिछले दिनों एक इलेक्ट्रॉनिक कम्पनी के मज़दूरों ने जबरिया कई-कई घण्टों तक ओवरटाइम कराने और प्रति घण्टा बेहद कम भुगतान करने पर हड़ताल कर दी। कम्पनी के इक्कसी प्लाण्ट में काम करने वाले 3,000 हजार में से 2,100 मज़दूर एक सप्ताह तक काम पर नहीं आये। कम्पनी ने काम के घण्टे कम करने और तनख्वाह बढ़ाने का वायदा किया तो मज़दूरों से यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि बिना लिखित गारण्टी के वे काम पर नहीं लौटेंगे। थक हार कर कम्पनी ने नये कॉन्ट्रेक्ट तो दिये, लेकिन हड़ताल करने वाले 2,100 मज़दूरों को निकाल बाहर किया। और उसकी कहीं सुनवाई नहीं हुई।

पिछले दिनों सरकार ने एक नया श्रमिक संविदा कानून बनाया जोकि देशी-विदेशी, खासकर अमेरिकी कम्पनियों के तीखे विरोध के बाद ही जारी किया जा सका। उनका तर्क था कि इस कानून के कारण चीन में निवेश करने का मुख्य उद्देश्य ही बाधित होगा। और यह मुख्य उद्देश्य है – आज्ञा का पालन करने वाले और सस्ती दरों पर काम करने के लिए तैयार मज़दूर, जोकि कार्यस्थितियों को बदलने में मुख्यत: निश्शक्त होते हैं। इसके बाद फॉक्सकॉन्न ने उसके यहाँ आठ से काम कर रहे मज़दूरों को स्थायी कान्ट्रेक्ट देने का प्रस्ताव किया और हुआवेई ने आठ वर्ष से अधिक अवधि से काम कर रहे 7,000 मज़दूरों और अन्य कर्मचारियों को इस्तीफा देने को मजबूर कर दिया और कई को स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति के लिए राजी कर लिया। इसके लिए उन्हें एकमुश्त कुछ रकम दी गयी और दोबारा छोटी अवधि के कान्ट्रेक्ट पर काम करने की अनुमति दी गयी। जबकि कुछ कम्पनियाँ तो अपना बोरिया-बिस्तर समेट कर चलती बनीं।

माओ की विरासत और उम्मीद की चिन्गारियाँ

देङ सियाओ पिङ के चेले-चपाटियों के तमाम प्रयासों के बावजूद सांस्कृतिक क्रान्ति और माओ के ऐतिहासिक अवदानों को विस्मृति के गर्भ में धकेला नहीं जा सका है। चीन के मेहनतकश वर्गों ने अपने बदतर होती हालत और समाजवादी क्रान्ति के दौर के संघर्ष और कुर्बानी के जरिये हासिल अधिकारों के छीने जाने को चुपचाप स्वीकार नहीं कर लिया है। शेंज़ेन और पूरे चीन के मज़दूर वर्ग में व्याप्त असंतोष और आक्रोश के समय-समय पर और जगह-जगह फूट पड़ने वाले लावे को व्यवस्था परिवर्तन की दिशा देने के लिए आज फिर माओ की शिक्षाओं को याद किया जा रहा है। पूरे चीन के पैमाने पर क्रान्तिकारी गतिविधियों के संकेत समय-समय पर मिलते रहे हैं। लगभग दो वर्ष पहले ही माओ के विचारों के समर्थन में पर्चे बाँटने के कारण चार मज़दूर कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार किया गया था जिसके विरोध में चीन के अनेक बुद्धिजीवियों ने भी आवाज़ उठायी थी। इसके अलावा भी क्रान्तिकारी विचारों को मानने वाले कई संगठन महज शेंज़ेन में ही नहीं बल्कि पूरे चीन में मज़दूरों को जागृत, गोलबन्द और संगठित करने और माओ की शिक्षा उन तक पहुँचाने का लगातार प्रयास कर रहे हैं। और प्रयासों की निरन्तरता का परिणाम मज़दूरों, युवाओं, बुद्धिजीवियों में क्रान्तिकारी चेतना के विकास के रूप में नज़र आ रहा है।

एक हाईटेक कम्पनी में काम करने वाले एक युवा तकनीशयन से बातचीत पर यह पता चला कि वह न केवल मज़दूर वर्ग के प्रति सचेत है, बल्कि उसके भीतर गुस्से और तीव्र बदलाव की भावना धधक रही है। उसने ग्रामीण आर्थिक संकट, सरकारों और उपक्रमों की मिलीभगत से होने वाले भ्रष्टाचार, मज़दूरों के लिए काम की बदतर स्थिति, वर्गीय ध्रुवीकरण से लेकर इराक युद्ध पर अपनी राय दी। उसका कहना था कि देश के 1.5 फीसदी ही अमीरों में आते हैं जबकि पचास प्रतिशत लोग जीने की बुनियादी जरूरतें तक पूरी नहीं कर पाते। साथ ही उसने यह भी कहा कि यह वर्गीय विभाजन भौगोलिक तौर पर भी नजर आता है, "चीन का पूर्वी भाग अमेरिका और यूरोप की तरह है, जबकि पश्चिमी अफ्रीका की तरह।"

हालाँकि, साजिशाना तरीके से माओ की विरासत और सांस्कृतिक क्रान्ति के अवदानों को दबाने का असर तो दिखता है। राज्य और पार्टी के अधिकारी माओ के युग के रिकॉर्ड में हेराफेरी करते हैं और माओ की क्रान्तिकारी शिक्षाओं और अवदानों को छिपाते हैं। इसका असर यह है कि युवा पीढ़ी के वर्ग चेतन मज़दूरों तक को चीन के क्रान्तिकारी समाजवादी युग का गहरा ज्ञान नहीं है। हालाँकि, चीनी समाज और पूरी दुनिया के मुद्दों के बारे में उन्हें पर्याप्त जानकारी है। एक युवा संगठनकर्ता का कहना था कि उसके साथ के प्रवासी मज़दूर समाजवादी दौर की स्थितियों की कल्पना तक नहीं कर सकते, क्योंकि वे उनके बारे में जानते तक नहीं हैं।

इस सबके बावजूद युवा पीढ़ी अधिकाधिक संख्या में क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को जन्म दे रही है जिनमें कॉलेज के छात्र-छात्राएँ भी हैं और वे बुद्धिजीवी भी हैं जिन्होंने चीन में समाजवाद के क्रान्तिकारी युग का अध्ययन किया है और आज की स्थितियों से उसकी तुलना कर सकते हैं। इनमें से कुछ तो प्रवासी मज़दूरों की नयी पीढ़ी और मज़दूर वर्ग के अन्य युवा सदस्यों को समाजवादी युग के गवाह रहे मज़दूरों से जोड़ने का प्रयास भी कर रहे हैं। एक युवा संगठनकर्ता का कहना था, "वृद्ध मज़दूरों में से 80 प्रतिशत माओ के युग में वापिस जाना पसंद करेंगे, और यह मानते हैं कि सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर में ही सही मायनों में समाज पर मज़दूर वर्ग का अधिकार था।" यह युवा संगठनकर्ता प्रवासी मज़दूरों तक इस बात को पहुँचाने का प्रयास कर रहा है कि उस दौर में प्रबन्धकों और मज़दूरों में बेहद मामूली अन्तर था, और वे मन की गहराई से प्लाण्ट को अपना समझते थे, खुद ही अपने उपक्रमों और घरों का निर्माण करते थे और उनके बच्चे पढ़ने के लिए स्कूल जाते थे।

हालाँकि, अब भी मज़दूर वर्ग तक ऐसी वैकल्पिक सोच पहुँचाने वाले युवा कार्यकर्ताओं की संख्या बेहद कम है। और अक्सर उन्हें दमन-उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है।

मज़दूर वर्ग के अपने साथियों तक पहुंचने की युवा संगठनकर्ताओं की सीमित क्षमता के बावजूद, आज के चीन की तीव्र होते अन्तरविरोध एक बार फिर आमूलचूल परिवर्तन की माँग कर रहे हैं। इसी का नतीज़ा है कि विशाल विरोध-प्रदर्शनों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है और वे लगातार अच्छी तरह संगठित होते जा रहे हैं, जिनमें दसियों लाख स्थानीय मज़दूर, प्रवासी मज़दूर और किसान शामिल होते हैं।

जो बुद्धिजीवी कुछ समय पहले खुद को श्रेष्ठ समझते थे वे भी आज वर्गों के ध्रुवीकरण और काम के अभाव और शिक्षा की स्थिति के चलते मानने लगे हैं कि उनके साथ सर्वहारा वर्ग जैसा व्यवहार किया जा रहा है। सिचुआन प्रान्त के चॉङगिङ के छात्रों ने पिछले दिनों राष्ट्रीय महाविद्यालय प्रवेश परीक्षा देने से यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि ऐसा करना केवल समय और धन की बर्बादी होगी। कॉलेज के छात्र-छात्राएं भी अपने अधिकारों के लिए सड़कों पर उतर रहे हैं।

• संदीप

उजड़ने, बसने और फिर उजड़ने की त्रासदी

(पेज 4 से आगे)

थी। लोहे की गाड़ी वाला शौचालय लाकर यहाँ खड़ा कर दिया जो इतना गंदा होता था कि लोग खुले में जाना ज्यादा पसंद करते। बरसात के मौसम में आँधी आती तो सब लोग अपना-अपना तम्बू पकड़ लटके रहते थे कि कहीं उड़ न जाये। बारिश में पानी के साथ-साथ बहकर साँप भी पन्नी के तम्बुओं में घुस जाते थे। बिस्तर पानी में भीगकर सड़ जाता था। पानी की आस-पास कोई सुविधा न थी तो लोग वहाँ से एक किमी. दूर प्याऊ से पानी के लिए लाइन लगाते थे। बिजली की कोई सुविधा न थी। लोगों ने खुद से पैसा लगाकर 500 मीटर दूर सड़क से तार खींचा। पास में स्कूल न होने के कारण लोगों ने अपने बच्चों को नरेला गाँव के स्कूल में दाखिला कराया। परन्तु लड़कियों के साथ छेड़छाड़, लड़कों को 'बिहारी या झुग्गी वाला' कहकर अपमानित करना, गुण्डागर्दी करना शुरू हो गया। कुछ ने तो स्कूल इसी वजह से जाना बंद कर दिया। जब यहाँ के लड़कों ने जबावी कार्रवाई की तो यह घटनायें कुछ कम हुईं।

यहाँ पर आये लोगों का काम धंधा उजड़ गया। फिर उसी जगह पर जाकर काम करने की संभावना नहीं थी। जो लोग दिल्ली में अन्य जगह काम करते थे उनको भी समस्या होने लगी क्योंकि यहाँ से वहाँ तक जाने के समय के अलावा इतना किराया लग जाता था कि आय आधी रह जाती थी। अत: बहुत सारे लोगों ने यहाँ फैक्ट्री कारखानों का रास्ता पकड़ा। औरतों और लड़कियों ने भी कारखानों में काम करना शुरू किया। वो बच्चे जिनकी पढ़ाई छूट गयी थी उनमें 11वीं 12वीं के अधिकतर लड़के फैक्ट्री में जाकर 1200-1400 रुपये में 10-12 घण्टे हाड़मांस गलाने लगे। दिल्ली में वापस काम करने के लिए जाना इसलिए भी कठिन था कि यहाँ परिवहन की सुविधा न थी। दो-दो घण्टे पर बस आती थी उसमें रुकती कुछ ही थीं। बहुत सारे लड़के तो पढ़ाई छूटने के बाद जुआ या चोरी-चकारी की तरफ मुड़ गये। कुछ दिहाड़ी बेलदारी करने लगे।

दिल्ली नगर निगम द्वारा पुनर्वास का काम बहुत धीरे-धीरे चला। 2 साल बाद शौचालय बना उसमें भी एक शौचालय अब भी बंद रहता है। 2 साल बाद लगे खम्भे और 4 साल में तार खिंचे। 1200-1200 रुपये लेकर मीटर लगाये गये। ठेकेदारों ने जमकर खाया। एक दिन देर से बिजली बिल जमा करने पर 20 रुपये पेनल्टी ठोंक देते थे। पानी का पाइप लोगों ने खुद पैसा लगाकर बिछाया। 2004 के बाद दिल्ली जलबोर्ड ने पानी का कनेक्शन काट दिया। अब बोरिंग का पानी पीने के लिए आता है। 4 साल तक टेण्ट के स्कूल में बच्चे पढ़ाई के लिए जाते थे। 2006 तक जाकर कहीं स्कूल बन पाया। नालियाँ अब बनी हैं, जबकि सीवर पड़ने में 3-4 साल लग गये।

इस तरह सहज ही समझा जा सकता है कि दिल्ली को चमकाने वाले मेहनतकशों के खाते में उजड़ना ही आया। 1980 से 2008 तक मज़दूरों के उजड़ने, बसने और फिर उजड़ने का सिलसिला चलता ही रहा है। और यह सिलसिला रुकने का नाम नहीं ले रहा है। शीला दीक्षित की सरकार ने भारी पैमाने पर झुग्गियों को उजाड़कर मज़दूरों को दिल्ली के बाहरी किनारों प फेंक देने का काम किया। अभी विधानसभा चुनाव और आने वाले लोकसभा चुनाव के चलते यह सिलसिला कुछ थमा है लेकिन चुनाव निपटते ही ग़रीबों को उजड़ने का काम दुगनी तेजी से शुरू हो जायेगा - यह तय है। चाहे किसी भी पार्टी की सरकार बने, इस मामले में सब एक हैं!

दूसरी ओर यही लुटेरी व्यवस्था अमीरजादों के फ्लैटों को कभी नहीं तोड़ती और जब उनके लिए अपार्टमेण्टों का निर्माण होता है तो पहले ही शिक्षा, स्वास्थ्य, शॉपिंग सेंटर, परिवहन, बिजली, पानी, सीवर इन सबकी सुविधा पूरी कर दी जाती है और उसके बाद अमीरजादे इनमें रहने के लिए आते हैं।

सवाल यह नहीं है कि पूँजीवादी व्यवस्था का बुलडोजर कब तक हम मेहनतकशों को उजाड़ता रहेगा, कब तक हमारे जीवन को तबाह-बर्बाद करता रहेगा। बल्कि सवाल यह है कि कब हमारे मेहनतकश भाई जागेंगे और बुलडोजर को पूँजीवादी व्यवस्था की तरफ मोड़ देंगे।

– प्रसेन

दिल्ली में चुनावी भण्डाफोड़ अभियान की रिपोर्ट

दिल्ली। दिल्ली सहित पाँच राज्यों में हुए विधानसभा चुनावों की नौटंकी और जनता के साथ होते इस धोखाधड़ी के खेल का पर्दाफाश करते हुए **'नौजवान भारत सभा'** और **'दिशा छात्र संगठन'** ने मिलकर **'चुनाव भण्डाफोड़ अभियान'** 21 नवम्बर से 28 नवम्बर तक दिल्ली के कई इलाकों में सघन रूप से चलाया। करावल नगर से शुरू हुए इस अभियान में 58 वर्षों से चल रहें धनतंत्र के इस खेल की असलियत उजागर करता एक पर्चा 'किसे चुनें? सांपनाथ, नागनाथ या बिच्छूप्रसाद को?' पूरे इलाके में नुक्कड़ सभाएँ करते हुए बाँटा गया। इस 'चुनाव भण्डाफोड़ अभियान' में छात्रों-नौजवानों की टोली एक नुक्कड़ नाटिका के जरिये इन नेताओं द्वारा चुनाव के समय की जाने वाली नौटंकी पेश भी कर रही थी - जिसमें दो लोग चुनावी नेता बने हुए थे और जनता से कभी न पूरे करने वाले वायदों में एक-दूसरे को पछाड़ने और कुर्सी के लिए कुत्तों की तरह लड़ रहे थे। इस नौटंकी से बाहर निकलने और विकल्प में लोगों से कहा जा रहा था कि पूँजीवादी व्यवस्था के इन चुनावी मायाजाल से बाहर निकलकर हमें मेहनतकश वर्ग की मुक्ति के लिए इंकलाब की तैयारी में लगना होगा और 70 फीसदी मेहनतकश आबादी का राज स्थापित करना होगा तभी सही मायनों में आम जनता के चुनाव होंगे। दिशा छात्र संगठन के सदस्य शिवार्थ ने लोगों से बात रखते हुए कहा कि 'ये चुनाव एक रूप में आगामी लोकसभा चुनाव के पहले के शक्ति-प्रदर्शन और रिहर्सल भी है और अरबों रुपये के खर्च में होने वाले इन चुनावों में कोई भी पार्टी जीते आम मेहनतकश आबादी के लिए कोई फर्क नहीं पड़ने वाला है। अभियान के दौरान छात्रों-नौजवानों द्वारा **''भगतसिंह का ख्वाब, इलेक्शन नहीं इंकलाब''**, **''नेताओं का बोलबाला, जनता का पिट रहा दिवाला''**, और **''चुनावी मायाजाल से बाहर आओ और नई क्रान्ति की राह बनाओं''** जैसे नारे भी जोर-शोर से लगाये जा रहे थे। इस अभियान को करावल नगर, मुस्तफाबाद, झिलमिल के मज़दूर इलाकों, गुरुतेग बहादुर अस्पताल कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय में हॉस्टलों में और दिल्ली की बसों में भी चलाया गया।

नरेला में भी चला भण्डाफोड़ अभियान

'नौजवान भारत सभा' तथा 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के कार्यकर्ताओं ने नरेला तथा बादली के विभिन्न इलाकों में नुक्कड़ नाटक, नुक्कड़ सभाएँ, पर्चा वितरण तथा पोस्टरिंग के माध्यम से चुनावी नेताओं का जमकर भण्डाफोड़ किया तथा मेहनतकश जनता से क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करने की तैयारी में जी-जान से लग जाने की अपील की।

'नौजवान भारत सभा' की ओर से जारी 'मेहनतकश जनता के लिए जरूरी जनरल नॉलेज' के माध्यम से पूँजीवादी चुनावी पार्टियों, उनके नेताओं के चरित्र, चुनाव पर होने वाले खर्च, संसद-विधानसभाओं का असली काम, न्यायपालिका तथा शिक्षा व्यवस्था का भण्डाफोड़ किया गया।

26-27 नवम्बर को 'नौजवान भारत सभा' तथा 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के कार्यकर्ताओं ने नरेला के सेक्टर ए-5 के पॉकेट-14, 8, 11, 13 आदि नरेला रेलवे स्टेशन, सूरज पार्क जे.जे. कैम्प, गड्ढा बस्ती तथा बादली रेलवे स्टेशन पर नुक्कड़ नाटक, नुक्कड़ सभाओं तथा पर्चा वितरण करके सारी चुनावी पार्टियों तथा उनके नेताओं की पोल खोली तथा क्रान्तिकारी विकल्प के निर्माण की जरूरत लोगों को बतायी।

विभिन्न सभाओं में कार्यकर्ताओं ने बताया कि पिछले 58 वर्षों से चुनावी नाटक हो रहा हैं जनता ने सभी पार्टियों को इस उम्मीद के साथ चुना कि जिन्दगी में बदलाव आये, ग़रीबी, बेरोजगारी, मँहगाई खत्म हो, हरेक व्यक्ति इन्सान की तरह जीवन बिता सके। मगर साँपनाथ, नागनाथ तथा बिच्छूप्रसाद ने मिलकर जनता की जिन्दगी को तबाह-बर्बाद करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जनता भी इन पार्टियों तथा इनके नेताओं से निराश हो चुकी है, पर उसके सामने कोई विकल्प नहीं है।

'नौजवान भारत सभा' तथा 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के कार्यकर्ताओं ने 'भगतसिंह का ख्वाब, इलेक्शन नहीं इन्कलाब', 'भगतसिंह के सपनों को साकार करो, साकार करो', 'भगतसिंह का ये पैगाम, जागो मेहनतेकश अवाम' आदि नारों के माध्यम से जनता को बताया कि भगतसिंह तथा उनके साथी जिस तरह की आजादी के लिए संघर्ष कर रहे थे, वैसी आजादी नहीं मिली। आज देश की 90 फीसदी मेहनतकश जनता के ऊपर 10 फीसदी मुनाफ़ाख़ोर तथा उनके लग्गू-भग्गू राज कर रहे हैं। एक तरफ मुट्ठीभर लोग ऐय्याशी कर रहे हैं तथा दूसरी ओर करोड़ो-करोड़ लोग भुखमरी के शिकार हो रहे हैं। इस हालात को बदलना होगा। पर यह काम चुनाव के रास्ते सम्भव नहीं है।

वक्ताओं ने सभाओं में लोगों का आह्वान किया कि अपने शहीदों के अधूरे सपनों को पूरा करने के लिए आगे आयें। एक समतामूलक समाज बनाने की लड़ाई में शामिल हुआ जाये। जनता अपने क्रान्तिकारी संगठनों का ताना-बाना खड़ा करें तथा एक लम्बी तैयारी के बाद लूट-शोषण-अन्याय पर टिके इस मानवद्रोही व्यवस्था को उखाड़ फेंका जाये। एक ऐसे समाज के निर्माण की लड़ाई अभी से ही शुरू करनी होगी जिसमें हर इन्सान पूरी इन्सानी गरिमा के साथ अपना जीवन बिता सके।

– बिगुल संवाददाता

नन्दन नीलेकणी की किताब के बहाने एक बार फिर उजागर हुई पूँजीपतियों की सोच

पूँजीपति के लिए मज़दूर सिर्फ़ मुनाफ़ा पैदा करने का एक साधन है!

भारत सिर्फ अपने विशाल बाजार की वजह से ही पूँजीपति वर्ग को नहीं लुभा रहा है बल्कि उसकी विशालकाय सस्ती श्रमशक्ति भी उसे आकृष्ट कर रही है। जिस तरह कई मेमनों को देखकर भेड़िये की आँखों में खून और मुँह से लार टपकने लगती हैं कुछ उसी तरह का भाव भारत की सस्ती श्रम शक्ति को देखकर पूँजीपति वर्ग के विचारों में प्रकट हो रहा है। इस श्रम को अच्छी तरह निचोड़ने के लिए उसे बेवकूफ बनाना भी जरूरी है। यह काम हमारे राजनीतिज्ञों के बयानों के साथ-साथ पूँजीपति वर्ग के नवदौलतिये विचारक लगातार करते रहते हैं। इसी कड़ी में ताजा कोशिश आईटी कंपनी इंफोसिस के सह-अध्यक्ष नंदन नीलेकणी ने अपनी किताब 'इमेजनिंग इण्डिया' में की है। इंफोसिस साफ्टवेयर बनाने वाली वही कंपनी है जिसके मालिक नारायणमूर्ति देश के सबसे अमीर आदमियों में शुमार किये जाते हैं।

इस किताब में नीलेकणी ने भावी भारत की सतरंगी तस्वीर पेश की है। उनके अनुसार अब भारत की जनसंख्या अभिशाप नहीं वरदान है। इसे काम में लगाकर देश अविश्वसनीय तरक्की कर सकता है। उसकी विकास दर नयी ऊँचाइयों को छू सकती है। देश का मध्यवर्ग फैलकर दो दशक में ही 58 करोड़ यानी लगभग आधी आबादी के बराबर हो जायेगा। बस जरूरत है लोगों को अच्छी शिक्षा और आगे बढ़ने का मौका देने की। उन्होंने सरकार को इस पर सबसे ज्यादा जोर देने का सुझाव भी दिया है।

वैसे नीलेकणी ने कोई नयी बात नहीं कही है। पूँजीवाद के पैरोकार अरसे से जनसंख्या और खासकर कार्यशील जनसंख्या को मुनाफ़ा पैदा करने वाली 'ह्यूमन कैपिटल' (मानव पूँजी) मानते रहे हैं। उनके लिए इस देश के करोड़ों मज़दूर और उनके परिवार जीते-जागते इंसान नहीं मुनाफ़ा पैदा करने वाला कच्चा माल या मशीन के कल-पुर्जे से ज्यादा हैसियत नहीं रखते। वे मज़दूरों को अपनी फैक्ट्रियों/ऑफिसों में झोंककर उनकी मेहनत से अकूत धन-सम्पदा पैदा करने के लिए बेताब हैं। आज पूँजीपतियों को सिर्फ अनपढ़ और अप्रशिक्षित मज़दूर ही नहीं बल्कि थोड़े तकनीकी ज्ञान से परिचित (आईटीआई पास) से लेकर साफ्टवेयर इंजीनियरों की काफी जरूरत है। इस मायने में भारत का पूँजीपति वर्ग दूसरे देशों से ज्यादा फायदे में है क्योंकि उसे सस्ते शारीरिक श्रम के साथ सस्ता मानसिक श्रम भी आसानी से मिल रहा है।

नयी आर्थिक नीतियाँ आने के 17 सालों बाद सच्चाई साफ हो चुकी है कि इससे जहाँ एक ओर लोगों को रोजगार के नाम पर शोषण-उत्पीड़न का भयंकर कहर झेलना पड़ रहा है वहीं कई लाख लोगों की तो नौकरी भी छिन चुकी है। इन नीतियों से देश के आम आदमी की जिंदगी चाहे बदली हो या नहीं लेकिन पूँजीपति वर्ग जरूर दिन-दूना रात-चौगुने के हिसाब से फूल-फूलकर विशालकाय राक्षसों में तब्दील हो गया। इसी के साथ मध्यवर्ग का ऊपरी तबका पैदा हुआ जो पूँजीपति वर्ग के वफादार चाकर की तरह देश की मेहनतकश जनता की गाढ़ी कमाई को लूटने में उसका सहभागी बना और इस लूट के कुछ टुकड़े पाकर पूँजीवादी व्यवस्था का पैरोकार बन गया। नीलेकणी जैसे लोग अपने आसपास के इन्हीं लोगों की तरक्की को पूरे देश की तरक्की का नाम दे रहे हैं।

इन लोगों के लिए देश की बाकी आबादी का अस्तित्व एक आँकड़े या उनके लिए लगने वाली मानव पूँजी से ज्यादा कुछ नहीं है। ऐसे लोग करोड़ों मेहनतकश लोगों के जीने की दशाओं, काम की दशाओं, स्वास्थ्य, शिक्षा के बारे में सोचना भी गवारा नहीं करते। देखा जाये तो यह सोच उसी तरह की है जिस तरह रोमन साम्राज्य में राजा, मंत्री, सैनिक, दस्तकार, व्यापारी आदि नागरिक माने जाते थे और नागरिकों से इतर उनके लिए काम करने वाली 90 प्रतिशत गुलाम आबादी को इंसान ही नहीं माना जाता था।

सामाजिक सरोकारों का दिखावा करने वाले ऐसे लोगों की असलियत भी समझी जा सकती है। अगर यह मान भी लिया जाये कि बड़ी-बड़ी कंपनियाँ चलाने वाले इन लोगों को आम ग़रीब आबादी नजर नहीं आती तब भी इनके आसपास घूमने वाली, इनकी सेवा-टहल करने वाली और इनके लिए खटने वाली स्काईकर्मियों, चपरासियों, ड्राइवरों, मालियों से लेकर निचोड़ने वाला मानसिक श्रम करने वाले साफ्टवेयर कर्मियों की कितनी परवाह ये लोग करते होंगे, इसका अंदाजा ही लगाया जा सकता है। हाल में कई रिपोर्ट बताती हैं कि बड़ी कंपनियों में काम करने वाले लोग अवसाद, अनिद्रा, अलगाव और कई शारीरिक बीमारियों की चपेट में आ जाते हैं। इन्हें थोड़ी ज्यादा तनख्वाह देकर बुरी तरह काम करवाया जाता है। मजेदार बात यह है कि इसी तबके के अंदर नंदन नीलेकणी जैसे लोगों की बात का असर सबसे ज्यादा होता है।

मिडिल क्लास के तेजी से बढ़ने का एक छलावा लगातार प्रस्तुत किया जा रहा है। कहा जा रहा है कि इस विकास से देश की मिडिल क्लास आबादी दो दशकों में 60 करोड़ के आसपास पहुँच जाएगी। यह तर्क पूँजीवाद की अपनी गति से ही गलत साबित हो रहा है। यह समझा ही जा सकता है कि पूँजीवाद में बहुसंख्यक आबादी की बदहाली से कुछ लोगों की खुशहाली पैदा होती है। यह सही है कि हमारे देश में नयी आर्थिक नीतियों की शुरुआत होने पर मध्यवर्ग के फैलने की सम्भावना थी और यह कुछ हद तक फैला भी। खुद सरकार ने बाजार निर्मित करने और अपने सामाजिक आधारों का विस्तार करने के लिए मध्यवर्ग के मुखर तबकों (प्रोफेसरों, पत्रकारों आदि) की तनख्वाहों में भारी बढ़ोत्तरी की। कंपनियों के मैनेजरों आदि के रूप में मध्यवर्ग का एक ऊपरी तबका पैदा हुआ लेकिन इसके भविष्य में इतने ज्यादा बढ़ जाने की बात सफेद झूठ के अलावा कुछ नहीं है। दुनिया में छाई वर्तमान मंदी भी इस दावे को तार-तार कर देती है। लगातार छँटनी और नौकरियों में कमी आने की खबरें आ रही हैं। यह संकट कोई अस्थायी संकट नहीं है। भले ही कुछ समय इससे राहत पाने की कोशिश की जाये पर पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के अति-उत्पादन और मंदी के स्वाभाविक चक्र में यह समस्या हमेशा आती रहेगी।

असलियत यह है कि मध्यवर्ग का बेहद छोटा हिस्सा ही अब ऊपर जा सकता है। बाकी हिस्सा आज अपने जीवन-स्तर को बरकरार रखने की जीतोड़ कोशिश कर रहा है बल्कि वह आर्थिक तौर पर खोखला भी होता जा रहा है। और मध्यवर्ग का बड़ा हिस्सा सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा बनने की प्रक्रिया में लग चुका है। गाँवों और शहरों के बीए, एमए पास लड़के भी मज़दूरी करने को मजबूर हैं। इसलिए मध्यवर्ग का इतना फैलना जनता को दिखाये जाने वाले मुंगेरीलाल के हसीन सपने के अलावा और कुछ नहीं है।

वैसे इतनी बड़ी आबादी को सोच के दायरे से बाहर रखना अकेले नीलेकणी की दिक्कत नहीं है। हमारे देश के प्रगतिशील और प्रबुद्ध कहे जाने वाले तबकों को भी आजकल गरीब थोड़ा कम ही नजर आते हैं। ये लोग सड़कों पर कारों के हुजूम के इर्दगिर्द फुटपाथों, साइकिलों पर चलने वाले और बसों में ठुँसी हुई ग़रीब आबादी को देख नहीं पाते हैं। यह अदृश्य आबादी चुपचाप सुबह 9-10 बजे तक फैक्ट्रियों, ऑफिसों, दुकानों पर पहुँचती है और रात होने पर घर वापस लौटती है। इस आबादी के रहने की जगहें भी अब शहरी हदों से बाहर पटक दी गयी हैं या बीच में कहीं ढँकी-छुपी रहती हैं। समस्या यह नहीं है कि यह गरीब आबादी दिखती क्यों नहीं बल्कि यह है कि इसे देखने का हिम्मत जनता की बात करने वाले कितने प्रगतिशील लोग दिखाते हैं?

असल में भारतीय पूँजीपति वर्ग को सस्ते और कुशल श्रमिकों की बड़ी खेप चाहिए। इस आपूर्ति को पैदा करने के लिए लोगों को तरक्की का सुनहरा ख्वाब दिखाना बेहद जरूरी है। नंदन नीलेकणी जैसे लोग यही काम कर रहे हैं। आम मेहनतकश लोगों को इन छलावों की असलियत समझनी होगी। उसे इन तमाम गढ़े जा रहे तर्कों की छानबीन करके उन्हें तार-तार कर देना होगा। उन्हें समझना होगा कि तरक्की के दिखाये जा रहे ये सपने उन्हें ललचाने-भरमाने-लूटने-निचोड़ने के लिए दिखाये जा रहे हैं। उसे देश की विकास दर से अपने जीवन की तरक्की का सम्बन्ध जोड़ने वाले हवाई काल्पनिक जुमलों को कचरापेटी के हवाले करना होगा। कुल मिलाकर उसे पूँजीपति वर्ग और उसके तमाम विचारकों के मिथ्याजाल को काट फेंकना होगा। यह बात तय है कि भारत की भावी तस्वीर देश के मेहनतकश वर्ग को बनानी है नंदन नीलेकणी जैसे टुटपूँजिया स्वयंभू विचारकों को नहीं।

– कपिल स्वामी

जन्मतिथि (28 नवम्बर) के अवसर पर

कम्युनिस्ट समाज के बारे में कुछ बातें

फ्रेडरिक एंगेल्स

(8 फरवरी, 1845 को एल्बरफील्ड में दिया गया भाषण)

वैज्ञानिक समाजवाद के आविष्कारक के रूप में **कार्ल मार्क्स** के साथ **फ्रेडरिक एंगेल्स** का नाम यूँ जुड़ा हुआ है कि उसे अलग किया ही नहीं जा सकता।

फ्रेडरिक एंगेल्स न सिर्फ मार्क्स के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक कार्यों के अनन्य सहयोगी थे, बल्कि वे उनके ऐसे मित्र थे, जिसके बिना मार्क्स का काम करना तो दूर, जीना तक असम्भव हो जाता। दो महान क्रान्तिकारी इतिहास-पुरुषों की ऐसी मित्रता पूरे इतिहास में दुर्लभ है।

मार्क्स और एंगेल्स, दोनों ही अलग-अलग – एक फ्रांस की क्रान्ति और दर्शनशास्त्र का अध्ययन करता हुआ, और दूसरा, इंग्लैण्ड की औद्योगिक दशाओं का अध्ययन करता हुआ – पूँजीवादी समाज के चरित्र के बारे में समान नतीजों पर 1844 तक पहुँच चुके थे। इस समय तक दोनों ही इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा और द्वन्द्ववादी पद्धति को अपना चुके थे। 1844 में पेरिस में दोनों की मुलाकात और **'पवित्र परिवार'** पुस्तक के संयुक्त लेखन के साथ ही उनकी निष्ठापूर्ण आजीवन अटूट मैत्री की शुरुआत हुई।

'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के प्रकाशन से तीन वर्ष पूर्व, 1845 में **एल्बरफील्ड** में दिये गये अपने भाषणों में ही फ्रेडरिक एंगेल्स ने पूँजीवादी समाज के अन्तरविरोधों, उनकी विनाशकारी परिणतियों और कम्युनिस्ट समाज द्वारा प्रस्तुत समाधानों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की थी। गौरतलब है कि कम्युनिज़्म के सिद्धान्त उस समय अपने विकास की प्राथमिक अवस्था में ही थे। फिर भी, अपनी गहरी ऐतिहासिक दृष्टि और सूझबूझ के सहारे एंगेल्स ने कम्युनिस्ट समाज के बारे में जो कुछ बुनियादी बातें बताई थीं, वे मज़दूर कार्यकर्ता साथियों और आम पाठकों के लिए आज भी गौरतलब हैं।

सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक के जन्मदिन के अवसर पर हम एल्बरफील्ड में दिये गये उनके भाषणों में से एक का अनुवाद 'बिगुल' के पाठकों के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं। – सम्पादक

कम्युनिस्ट समाज में, जहाँ पर व्यक्तियों के हित एक दूसरे के विरोधी नहीं होंगे, बल्कि, इसके विपरीत एकीकृत हो जायेंगे, प्रतियोगिता समाप्त हो जायेगी। जैसाकि स्वत: स्पष्ट है कि तब किसी वर्ग-विशेष की बर्बादी का प्रश्न ही नहीं रह जायेगा, न ही वर्गों का अस्तित्व रहेगा जैसे कि आजकल के धनी और गरीब हैं। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन और वितरण से निजी लाभ और खुद को समृद्ध बनाने का उद्देश्य जैसे ही समाप्त होगा, व्यापार संकट भी स्वत: समाप्त हो जायेंगे। कम्युनिस्ट समाज में उत्पादन और उपभोग से सम्बन्धित सूचनाएँ प्राप्त करना बहुत आसान होगा। चूँकि हम जानते हैं कि एक व्यक्ति की औसत आवश्यकताएँ कितनी हैं, इसलिए एक निश्चित संख्या के व्यक्तियों के समूह की आवश्यकताओं की गणना आसानी से की जा सकती हैं, चूँकि उत्पादन अब निजी उत्पादकों के हाथ में नहीं रहेगा बल्कि समूह और उसकी प्रशासनिक संस्थाओं के मातहत होगा, इसलिए उत्पादन को आवश्यकताओं के अनुसार नियंत्रित करना बहुत आसान होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि कम्युनिस्ट संगठन के अधीन वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों की प्रमुख बुराइयाँ कैसे गायब हो जायेंगी। यदि हम थोड़ा विस्तार में जायें तो पायेंगे कि ऐसे संगठन का लाभ यहीं तक सीमित नहीं है बल्कि अन्य कमजोरियों का आधार भी मिट जाता है। आज मैं सिर्फ कुछ आर्थिक कमजोरियों की चर्चा करूँगा। आर्थिक दृष्टिकोण से देखा जाये, जितना हम समझ सकते हैं, समाज की वर्तमान व्यवस्था अत्यधिक अतर्कसंगत और अव्यावहारिक है। विरोधी हितों के कारण श्रमशक्ति का बहुत बड़ा हिस्सा इस तरह से इस्तेमाल होता है कि उससे समाज को कुछ भी लाभ नहीं मिलता, और इस तरह पूँजी का बड़ा हिस्सा बिना खुद को पुनरुत्पादित किये अनावश्यक रूप से नष्ट हो जाता है। इसे हम पहले ही व्यापार संकटों में देख चुके हैं। भारी मात्रा में वस्तुएँ, जिसे लोगों ने कठिन प्रयास से उत्पादित किया था, बहुत कम मूल्यों पर खपाई जाती हैं जिससे विक्रेता को नुकसान होता है, हम देखते हैं कि वस्तुओं की भारी मात्रा जो बहुत कठिन प्रयास से इकट्ठी की जाती हैं, दिवाला पिट जाने से, मालिकों की आँखों के सामने ही गायब हो जाती हैं। आइये, हम आजकल के व्यापार पर और विस्तार से बात करें। सोचिये, कोई उत्पाद उपभोक्ता तक पहुँचने के पहले कितने हाथों से गुजरता है। मित्रो, देखिये, कितने तरह के सट्टेबाज, निरर्थक धोखेबाज बिचौलिये उत्पादक और उपभोक्ता के बीच जबर्दस्ती घुस आये हैं। उदाहरण के लिए, रूई की एक गाँठ लें जो उत्तरी अमेरिका में पैदा की जाती है। रूई की गाँठ किसान के हाथ से निकलकर एक एजेण्ट के हाथ में आती है जो मिसीसिपी या अन्य किसी जगह रहता है, फिर वहाँ से नदी के रास्ते न्यू आरलिएन्स पहुँचती है। यहाँ पर रूई की गाँठ दोबारा बिकती है, पहले एजेण्ट ने इसे किसान से खरीदा फिर बेचा, इस बार इसे एक सट्टेबाज खरीदता है, सट्टेबाज इसे फिर एक निर्यातक को बेचता है। रूई की गाँठ यात्रा करते हुए अब लिवरपूल पहुँचती है और एक बार फिर एक लालची सटोरिया इसकी ओर अपने हाथ बढ़ाता है और इसे झपट लेता है। यह सटोरिया फिर इसका व्यापार फिर एक कमीशन एजेण्ट से करता है, मान लें यह एक जर्मन कारखाने का खरीदार है। अब रूई की गाँठ राइन से होते हुए, दर्जनों फारवर्डिंग एजेण्टों के हाथों से गुजरते, दर्जनों बार चढ़ते-उतरते रोटरडम पहुँचती है, सीधे उपभोक्ता के हाथ में नहीं बल्कि कारखानेदार के पास, जो पहले इससे उपभोक्ता वस्तु बनाता है – जो अपने धागे को बुनकर को बेचता है, बुनकर अपने बुने हुए कपड़े को छपाई करने वाले को देता है, छपाई करने वाला तब एक थोक व्यापारी से व्यापार करता है, थोक व्यापारी फिर फुटकर व्यापारी से धंधा करता है। फुटकर व्यापारी अन्त में इसे उपभोक्ता को बेचता है। और यह बीच के लाखों ठग, सटोरिये, एजेण्ट, निर्यातक, कमीशनखोर, आगे बढ़ाने वाले दलाल, थोक व्यापारी और खुदरा व्यापारी जो वास्तव में उत्पादन में कोई योगदान नहीं करते, वे सभी जीना और मुनाफ़ा कमाना चाहते हैं – और ऐसा ही करते हैं; नहीं तो वे जी नहीं सकते। मित्रो, रूई की गाँठ को अमेरिका से जर्मनी लाने, उत्पाद को सीधे उपभोक्ता के हाथ में पहुँचाने के लिए, दसियों बार बेचने, सैकड़ों बार लादने-उतारने और एक गोदाम से दूसरे गोदाम तक पहुँचाने की जटिल प्रक्रिया के अतिरिक्त क्या कोई अन्य सरल और सस्ता तरीका नहीं हो सकता है? क्या यह हितों के भिन्नता से पैदा हुई कई गुनी श्रम शक्ति की बर्बादी का ज्वलन्त उदाहरण नहीं है? इस जटिल यात्रा का एक तर्कसंगत तरीके से गठित समाज में प्रश्न ही नहीं पैदा होता। हमारे उदाहरण को देखते हुए, कोई भी आसानी से हिसाब लगा सकता है कि किसी एक कालोनी को कितनी रूई या उससे उत्पादित वस्तुओं की आवश्यकता है, केन्द्रीय शासन के लिए यह तय करना कि देश के सभी गाँवों, कस्बों की कुल आवश्यकता कितनी है, उतना ही आसान है। एक बार इन आँकड़ों के तैयार हो जाने पर – जो आसानी से एक या दो वर्षों में तैयार हो जायेंगे – औसत वार्षिक उपभोग में परिवर्तन सिर्फ जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में होगा; तब उपयुक्त समय पर पहले ही यह तय करना आसान होगा कि जनता को किसी खास वस्तु की कितनी मात्रा की आवश्यकता होगी – सम्पूर्ण बड़ी आपूर्ति का आदेश सीधे उत्पादन केन्द्र को दिया जायेगा; तब बिना किसी बिचौलिये के, बिना अनावश्यक देरी के, अर्थात श्रमशक्ति की अत्यधिक बचत करते हुए, उत्पाद को सीधे प्राप्त करना सम्भव होगा। अब सटोरियों, छोटे-बड़े व्यापारियों और उस पूरे समूह को भुगतान करना जरूरी नहीं होगा। लेकिन इतना ही नहीं – इस तरह न सिर्फ इन बिचौलियों द्वारा समाज का अहित करना रोक दिया जायेगा, बल्कि, वास्तव में उन्हें उपयोगी बना दिया जायेगा। अभी तक वे एक ऐसे कार्य में संलग्न हैं जो सभी के लिए अलाभकारी है और निरर्थक है, तो भी उनके लिए आजीविका जुटाता है और अधिकांशत: उन्हें बहुत अमीर बनाता है जबकि उनका कार्य समाज के सामान्य हितों को नुकसान पहुँचाता है। अब वे उपयोगी कार्य करने के लिए स्वतन्त्र होंगे और ऐसा व्यवसाय चुन सकेंगे ताकि अपने को मानव समाज का वास्तविक सदस्य और समग्र गतिविधि के एक हिस्से के रूप में प्रमाणित कर सकें न कि एक आभासी और कपटी के रूप में।

आज का समाज व्यक्ति और समूह के बीच शत्रुता पैदा करता है, इस तरह एक सामाजिक युद्ध पैदा करता है जिसमें सभी सबके खिलाफ लड़ते हैं जो निरपवाद रूप से व्यक्तिगत मसलों में, विशेषतया: अशिक्षित लोगों के बीच, निर्मम और बर्बर हिंसा का रूप धारण कर लेता है – अपराध को जन्म देता है। इस तरह खुद को इस अपराध और सीधी हिंसा के खिलाफ सुरक्षित रखने के लिए, समाज को जटिल और व्यापक प्रशासनिक और न्यायिक संस्थाओं के तंत्र की जरूरत पड़ती है जिसमें अत्यधिक श्रमशक्ति की आवश्यकता पड़ती है। कम्युनिस्ट समाज में यह सब बहुत सरल हो जायेगा। ऐसा इसलिए होगा – यह आश्चर्यजनक लग सकता है – मुख्यत: इसलिए कि इस समाज की प्रशासनिक संस्थाएँ लोगों के सामाजिक जीवन के व्यक्तिगत पहलुओं का ही नहीं बल्कि समग्र सामाजिक जीवन का प्रबन्धन करेंगी, उसकी समग्र गतिविधियों में, उसके समग्र पहलुओं में। हम एक व्यक्ति के अन्य सभी के साथ अन्तरविरोध को समाप्त कर देंगे, हम सामाजिक युद्ध की जगह सामाजिक शान्ति की स्थापना करेंगे, हम अपराध की जड़ पर प्रहार करेंगे – और इस तरह आज के प्रशासनिक और न्यायिक संस्थाओं की गतिविधियों का अत्यधिक हिस्सा अनुपयोगी हो जायेगा। आज भी योजनाबद्ध और स्वार्थजन्य अपराधों की तुलना में भावावेश में किये गये अपराधों की संख्या निरन्तर कम से कम होती जा रही है – व्यक्तियों के खिलाफ अपराध कम होते जा रहे हैं, सम्पत्ति के खिलाफ अपराध लगार बढ़ते जा रहे हैं। विकसित हो रही सभ्यता भावनाओं के हिंसक विस्फोटों को सीमित करती है, हमारे वर्तमान समाज में भी, जो युद्धरत है। एक शान्तिपूर्ण, कम्युनिस्ट समाज में कितना अधिक होगा! सम्पत्ति के खिलाफ अपराध वहाँ पर असंगत हो जायेगा जहाँ सभी को अपनी प्राकृतिक और आध्यात्मिक इच्छाओं की सन्तुष्टि के लिए जितना आवश्यक होगा, प्राप्त होगा, जहाँ पर सामाजिक श्रेणियाँ और भेद समाप्त हो जायेंगे। आपराधिक मामलों से सम्बन्धित कानून तंत्र खुद ही समाप्त हो जायेगा। जहाँ तक सामाजिक मामलों का सम्बन्ध है, अधिकांशत: जिनकी जड़ें सम्पत्ति सम्बन्धों या कम से कम ऐसे सम्बन्धों में होती हैं जो सामाजिक युद्ध की परिस्थितियों से पैदा होती हैं, इसी तरह गायब हो जायेंगी; तब झगड़े विरले अपवादस्वरूप होंगे, जबकि आज यह सामान्य शत्रुता का प्राकृतिक परिणाम है, और आसानी से पंचों द्वारा सुलझाये जायेंगे। अभी प्रशासनिक संस्थाओं की गतिविधियों का स्रोत सामाजिक युद्ध की निरन्तरता में है – पुलिस और सम्पूर्ण प्रशासनिक मशीनरी का काम सिर्फ यह होता है कि यह युद्ध छिपा रहे, परोक्ष रूप से चले और खुली हिंसा, अपराध के रूप में न भड़के। युद्ध को निश्चित सीमाओं में रखने की तुलना में शान्ति की स्थापना अत्यन्त आसान है, अत: प्रतियोगी समाज की तुलना में कम्युनिस्ट समाज का संचालन बहुत आसान है। यदि सभ्यता ने मनुष्य को पहले ही इस तरह शिक्षित कर दिया है कि वह अपने हितों की आपूर्ति के लिए जनव्यवस्था, जन सुरक्षा और जनहित को मुकम्मल बनाये, और इस तरह पुलिस, प्रशासन और न्याय प्रणाली को अधिकतम सम्भव रूप से निरर्थक बना दे, यह बात उस समाज में कितनी अधिक प्रभावी होगी जिसमें हितों की एकता बुनियादी सिद्धान्त होगा, और जिसमें जनहित और व्यक्तिगत हित में कोई भेद नहीं रह जायेगा! जो पहले से मौजूद है, बिना किसी सामाजिक संगठन के, यह कितना अधिक हो जायेगा जब इसके राह में कोई बाधा नहीं होगी और इसे सामाजिक संस्थाओं का सहयोग प्राप्त होगा। हम इस तरह श्रमशक्ति की पर्याप्त वृद्धि का हिसाब भी कर सकते हैं, श्रमशक्ति के उस हिस्से से जिससे वर्तमान व्यवस्था के कारण समाज वंचित है।

स्थायी सेना, उन सबसे खर्चीली संस्थाओं में से एक है जिससे आज का समाज छुटकारा नहीं पा सकता। इससे राष्ट्र आबादी के सबसे ऊर्जावान और उपयोगी हिस्से से वंचित हो जाता है और इसे खिलाने को बाध्य होता है क्योंकि यह खुद कोई उत्पादन नहीं करता। हम अपने खुद के बजट से जानते हैं कि स्थायी सेना पर कितना खर्च आता है – 240 लाख प्रतिवर्ष और एक लाख के दोगुने अत्यधिक सशक्त हाथों का उत्पादन क्षेत्र से बाहर कर दिया जाना। कम्युनिस्ट समाज में किसी के लिए स्थायी सेना रखना आवश्यक नहीं रह जायेगा। फिर भी, देश में शान्ति स्थापना के लिए क्या होगा? जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, किसी के लिए भी आन्तरिक शान्ति को भंग करना सम्भव नहीं होगा। क्रान्तियों का भय, नि:सन्देह, जो हितों के टकराव का परिणाम होता है; जहाँ सबके हित एकाकार हो जायेंगे, इस तरह के भय का प्रश्न ही नहीं पैदा होगा। – आक्रामक युद्धों के लिए? लेकिन कम्युनिस्ट समाज में आक्रामक युद्ध छेड़ने का विचार भी कैसे पैदा हो सकता है? – यह समाज अच्छी तरह जानता है कि युद्ध में वह मनुष्य और पूँजी गँवायेगा और बदले में सिर्फ कुछ एक दुर्दम्य विरोधी प्रान्तों को पायेगा, परिणामस्वरूप यह सामाजिक व्यवस्था के लिए विघटनकारी होगा। – सुरक्षात्मक युद्ध के लिए? इसके लिए भी स्थायी सेना की जरूरत नहीं है। हथियारों के प्रयोग को सच्चा प्रशिक्षण, न कि बैरकों वाली औपचारिक ट्रेनिंग, समाज के प्रत्येक योग्य सदस्य को देश की सुरक्षा आवश्यकता के अनुरूप देना बहुत आसान होगा। और मित्रो, युद्ध की स्थिति में, जो सिर्फ कम्युनिस्ट-विरोधी राष्ट्रों के खिलाफ होगा, ऐसे समाज के सदस्यों के पास सच्ची पितृभूमि होगी, सुरक्षा के लिए अपना सच्चा घर-परिवार होगा, इसलिए वे उत्साह, धैर्य, और बहादुरी से लड़ेंगे, उनके सामने आधुनिक सेना के यंत्रवत प्रशिक्षित सैनिक भूसी की तरह बिखर जायेंगे। सोचिये कि क्रान्तिकारी सेना के उत्साह ने 1792 से 1799 के बीच कैसे अद्भुत कार्य किये थे*, जो सिर्फ एक विभ्रम के लिए लड़ा गया, पितृभूमि के प्रदर्शन के लिए। और सोचिये कि वह सेना कितनी शक्तिशाली होगी, जो एक विभ्रम के लिए नहीं बल्कि ठोस वास्तविकता के लिए लड़ती है। इस तरह सेना के कारण सभ्य राष्ट्र श्रमशक्ति की विशाल आबादी से वंचित कर दिये जाते

(पेज 11 पर जारी)

माओ त्से-तुङ के जन्मदिवस (26 दिसम्बर) के अवसर पर उनकी दो कविताएँ

चिङकाङशान पर फिर से चढ़ते हुए[1]

मई 1965

बहुत दिनों से आकांक्षा रही है
बादलों को छूने की
और आज फिर से चढ़ रहा हूं
चिङकाङशान पर ।
फिर से अपने उसी पुराने ठिकाने को
देखने की गरज से
आता हूं लम्बी दूरी तय करके,
पाता हूं नये दृश्य पुराने दृश्यों की जगह पर ।
यहां-वहां गाते हैं ओरिओल,
तीर की तरह उड़ते हैं अबाबील,
सोते मचलते हैं
और सड़क जाती है ऊपर आसमान की ओर ।
एक बार पार हो जाये हुआङऊयाङचिएह
फिर नहीं नजर आती और कोई जगह खतरनाक ।

मथ रही है हवाएं और बिजलियां
लहरा रहे हैं झण्डे और बैनर
जहां कहीं भी रहता है इंसान ।
चुटकी बजाते उड़ गये अड़तीस साल ।
भींच सकते हैं हम चांद को नवें आसमान में
और पकड़ सकते हैं कछुए
पांच महासमुद्रों की गहराइयों में :
विजयोल्लास भरे गीतों और हंसी के बीच
हम लौटेंगे ।
साहस हो यदि ऊंचाइयों को नापने का,
कुछ भी नहीं है असम्भव इस दुनिया में ।

दो पक्षी : एक संवाद[1]

शरद 1965

पंख पसारे खुनफङ पक्षी[2] ऊपर उड़ जाता है
दूर आकाश में नब्बे हजार ली की ऊंचाई पर
उठाता हुआ प्रचण्ड चक्रवाती झंझावात ।
नीले आकाश को उठाये हुए पीठ पर,
देखता है वह नीचे,
एक नजर डालता है इंसान की दुनिया पर
उसकी बस्तियों और शहरों पर ।
बन्दूकों से निकली आग चाट रही है आसमान
तोप के गोले धरती पर गड्ढे बना रहे हैं ।
आतंकित-स्तम्भित दुबकी है झाड़ी में एक गौरैया ।
''अरे, यह तो नर्क है अव्यवस्था का ।
उफ ! मैं तो भाग जाना चाहती हूं उड़कर
यहां से दूर बहुत दूर ।''

''आखिर कहां ? जरा मैं भी तो जानूं !''
उत्तर देती है गौरैया : ''जाऊंगी मैं
परी देश की पहाड़ियों में, रत्नजटित महल है जहां ।
पता नहीं क्या तुमको
दो वर्ष पहले की बात,
कि हस्ताक्षर हुए थे एक त्रिपक्षीय सन्धि[3] पर
शरद के चांद के उज्ज्वल प्रकाश में?
मिलेंगे वहां गोश्त भरे आलू गरमागरम[4]
जी भर कर खाने को ।''
''बन्द करो अपनी यह बेतुकी बकवास ।
उधर देखो,
उलट-पुलट दी जा रही है
पूरी की पूरी दुनिया ।''

अनुवाद एवं टिप्पणियाँ : सत्यव्रत

चिङकाङशान पर फिर से चढ़ते हुए

1. माओ ने यह सुप्रसिद्ध कविता उस समय लिखी थी जब चीन में पार्टी के भीतर मौजूद पूंजीवादी पथगामियों (दक्षिणपंथियों को यह संज्ञा उसी समय दी गई थी) के विरुद्ध एक प्रचण्ड क्रान्ति के विस्फोट की पूर्वपीठिका तैयार हो रही थी। महान समाजवादी शिक्षा आन्दोलन के रूप में संघर्ष स्पष्ट हो चुका था। युद्ध की रेखा खिंच गई थी। यह 1966 में शुरू हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की पूर्वबेला थी जिसने पूंजीवादी पथगामियों के बुर्जुआ हेडक्वार्टरों पर खुले हमले का ऐलान किया था। सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने पहली बार सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत क्रान्ति और अधिरचना में क्रान्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और इसे पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने का एकमात्र उपाय बताते हुए समाजवाद संक्रमण की दीर्घावधि के लिए एक आम कार्यदिशा दी। इसके सैद्धान्तिक सूत्रीकरणों की प्रस्तुति 1964-65 में ही की जाने लगी थी।

इस कविता में भावी युगान्तरकारी क्रान्ति की पदचापें स्पष्टत: ध्वनित होती हैं। चिङकाङशान में पहली बार देहाती आधार इलाकों का निर्माण हुआ था, भूमि क्रान्ति के प्राथमिक प्रयोग हुए थे, लाल सेना का जन्म हुआ था और यहीं से दीर्घकालिक लोकयुद्ध का मार्ग प्रशस्त हुआ था। यह चीनी क्रान्ति का एक प्रतीकचिन्ह था। 1965 में एक नई क्रान्ति के तूफान का आवाहन करते हुए माओ चिङकाङशान पर फिर से चढ़ने का वर्णन करते हुए एक बार फिर उन दिनों को याद करते हैं और उनसे प्रेरणा लेते हैं। चिङ काङ शान पर फिर से चढ़ना एक और युगान्तरकारी क्रान्तिकारी संघर्ष की तैयारी का प्रतीक है। इस कविता में सर्वहारा साहस, संकल्प और आशावाद की सान्द्र अभिव्यक्ति सामने आई है।

दो पक्षी : एक संवाद

1. इस कविता में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद द्वारा नाभिकीय महाविनाश का हौवा खड़ा करके दुनिया भर की मुक्तिकामी जनता को डराने और अपना संघर्ष स्थगित कर देने की सलाह देने तथा साम्राज्यवादियों के सामने घुटने टेकने की खिल्ली उड़ाई गई है। इस समय तक ख्रुश्चेव का पतन हो चुका था पर अभी सोवियत संघ और अमेरिका के बीच अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा उग्र रूप में शुरू नहीं हुई थी। अभी मुख्य पक्ष यह था कि सोवियत जनता, चीनी क्रान्ति और दुनिया भर में जारी मुक्ति संघर्षों के खिलाफ, सोवियत सत्ता के नये बुर्जुआ स्वामी पश्चिमी साम्राज्यवाद के साथ न केवल हाथ मिलाये हुए थे बल्कि घुटने भी टेक रहे थे।

कविता में उल्लिखित खुनफङ पक्षी सर्वहारा वर्ग और सर्वहारा आशावाद का प्रतीक है जबकि भयाक्रान्त गौरैया ख्रुश्चेवी संशोधनवाद और हर तरह की संशोधनवादी कायरता का प्रतीक है।

2. खुनफङ पक्षी का उल्लेख चीन की एक प्राचीन नीतिकथा में इस प्रकार मिलता है : ''उत्तरी सागर में खुन नाम की एक मछली थी, जिसका आकार इतना बड़ा था कि उसकी लम्बाई-चौड़ाई कई हजार ली तक फैली हुई थी। बाद में उसने एक पक्षी का रूप धारण कर लिया और उसका नाम फङ पड़ गया। इस पक्षी की पीठ की लम्बाई भी कई हजार ली थी। एक बार वह गुस्से में भरकर उड़ने लगा तो उसके पंख आकाश में फैले बादलों की तरह दिखाई देने लगे। ... वह उड़ता-उड़ता नब्बे हजार ली की ऊंचाई पर पहुंच गया।... वह अपनी पीठ पर समूचा आसमान उठाये था। कोई न तो उसे क्षति पहुंचा सकता था और न उसके रास्ते में बाधा ही डाल सकता था।...''

3. यहां अभिप्राय त्रिपक्षीय नाभिकीय परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि से है जिस पर 5 अगस्त 1963 को अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के विदेश मंत्रियों ने मास्को में हस्ताक्षर किये थे।

4. यहां अभिप्राय ख्रुश्चेव के नकली कम्युनिज्म यानी गुलाश कम्युनिज्म से है।

कम्युनिस्ट समाज के बारे में कुछ बातें

(पृष्ठ 10 का शेष)

हैं, एक कम्युनिस्ट समाज में फिर से श्रम से जुड़ जायेंगे, वे न सिर्फ अपने खाने भर को पैदा करेंगे बल्कि खुद के जीवन-यापन की आवश्यकता से बहुत अधिक उत्पाद पैदा करके जन भण्डार गृहों को सौंप देंगे।

वर्तमान समाज में श्रमशक्ति की सबसे घटिया किस्म की बर्बादी अमीरों द्वारा अपनी सामाजिक हैसियत के दुरुपयोग से होती है। मैं उन सब निरर्थक और बहुत हद तक हास्यास्पद विलास के बारे में कुछ नहीं कहूँगा जो प्रदर्शन की ललक से पैदा होती है और श्रमशक्ति के एक बड़े हिस्से को खपा डालती है। लेकिन, महानुभावो, मकान के भीतर जायें, अमीर आदमी के आन्तरिक अभ्यारण्य में, और मुझे बतायें कि क्या यह श्रमशक्ति की मूर्खतापूर्ण बर्बादी नहीं है कि ढेर सारे लोग एक व्यक्ति की सेवा-टहल के लिए अपना समय निष्क्रियता में खर्च कर रहे हैं, या और बेहतर ढंग से कहें, ऐसे कार्य में खर्च कर रहे हैं जो चारदीवारों के भीतर पड़े एक व्यक्ति के अलगाव से पैदा हुआ है? दाइयों, बावर्चियों, टहलुओं, गाड़ीवानों, घरेलू नौकरों, मालियों और अन्य नामों वाले लोगों की भीड़, वास्तव में वे क्या करते हैं? पूरे दिन की व्यस्तता में कितने कम क्षण अपने मालिक के जीवन को खुशहाल बनाने और उसके मानवीय गुणों तथा जन्मजात क्षमताओं के स्वतन्त्र विकास और प्रयोग को मदद देने में खर्च करते हैं – गाड़ी के पीछे खड़े रहना, मालिक की प्रत्येक सनक को पूरा करना, उसके पालतू कुत्ते को ढोना और अन्य वाहियात काम। एक तर्कसंगत तरीके से संगठित समाज में, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति इस स्थिति में होगा कि अमीरों की सनक की दलाली के लिए बाध्य नहीं होगा, और खुद इस सनक का शिकार नहीं होगा – इस तरह के समाज में, वह श्रमशक्ति जो विलास की व्यवस्था में बरबाद होती थी, अब खुद के और सबके हित में स्वाभाविक रूप से काम आयेगी।

श्रमशक्ति की एक और प्रकार की बर्बादी जो हमारे समाज में प्रतियोगिता के सीधे परिणाम से होती है, यह अभावग्रस्तता मजदूरों की एक बड़ी संख्या को जन्म देती है जो खुशी से काम करते, लेकिन उन्हें कोई काम नहीं मिलता। चूँकि समाज किसी भी तरह इस रूप में नहीं संगठित है कि वह श्रमशक्ति के वास्तविक उपयोग की ओर ध्यान देने में सक्षम हो, चूँकि यह अलग-अलग व्यक्तियों पर छोड़ दिया गया है कि वे लाभ के स्रोतों की तलाश करें, इसलिए यह स्वाभाविक है कि जब भी वास्तविक या उपयोगी दिखने वाले काम का बँटवारा हो, तो बहुत से मजदूर बिना किसी काम के रह जायें। प्रतियोगी संघर्ष अनिवार्यत: प्रत्येक को बाध्य करता है कि अपनी शक्ति को अधिकतम सीमा तक तनाव दे, ताकि उपलब्ध सुविधाओं का इस्तेमाल कर सके, मँहगे श्रम को सस्ते श्रम से प्रतिस्थापित करे। विकसित होती सभ्यता इसके नये-नये तरीके ईजाद कर रही है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे को बेकार करके, दूसरे लोगों के श्रम को एक या दूसरे तरीके से हटाकर काम करना पड़ता है। इस तरह सभ्य समाज में बेरोजगार लोगों की एक बड़ी आबादी होती है जो प्रसन्नतापूर्वक काम करेंगे लेकिन कोई काम नहीं पाते, इनकी संख्या आम अनुमान से कहीं अधिक होती है। और हम ऐसे लोगों को एक या दूसरे प्रकार के नीच कर्म में खुद को ले जाते हुए पाते हैं, भीख माँगना, गलियों में झाड़ू लगाना, नुक्कड़ों पर खड़े रहना, यदा-कदा मिलने वाले छोटे-मोटे कामों से अपनी आत्मा और शरीर को सिकी तरह एक रखना, सभी तरह की छोटी और तुच्छ वस्तुओं की फेरी लगाना, जैसे कि हमने उन ग़रीब लड़कियों के जोड़े को इस शाम देखा, वे एक गिटार के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा रही थीं, पैसे के लिए गा और बजा रही थीं, हर प्रकार की शर्मनाक बातचीत के लिए विवश की जा रही थीं, चन्द सिक्कों के लिए अपमानजनक ताने सुन रही थीं। इनमें से कितनी वास्तविक वेश्यावृत्ति का शिकार बन जाती हैं। सज्जनो, ये अभागे लोग, जिनके लिए अन्य कोई रास्ता नहीं खुला है सिवाय खुद को किसी नीच कर्म में ढकेल देने के, उनकी संख्या बहुत बड़ी है – हमारे बेचारे राहत कर्मचारी आपको इनके बारे में सब कुछ बता सकते हैं। और यह मत भूलें कि उनकी अनुपयोगिता के बावजूद समाज किसी तरह उनका भी भरण-पोषण करता है। यदि, समाज को उनके भरण-पोषण का खर्च उठाना ही है, तो ऐसा भी किया जा सकता है कि ये बेरोजगार लोग अपना गुजारा सम्मान के साथ कमा सकें। लेकिन वर्तमान प्रतियोगितापूर्ण समाज ऐसा नहीं कर सकता।

सज्जनो, यदि आप इन सबके बारे में सोचें – मैं आपको दूसरे बहुत से उदाहरण दे सकता था कि हमारी वर्तमान व्यवस्था किस तरह अपनी श्रमशक्ति को बर्बाद करती है – यदि आप इसके बारे में सोचें तो आप पायेंगे कि मानव समाज के पास इस्तेमाल के लिए उत्पादक शक्तियों की प्रचुरता है जो सबके लिए अत्यधिक लाभकारी ढंग से काम में आने के लिए एक तर्कसंगत संगठन और नियन्त्रित वितरण का इन्तजार कर रही हैं। इसके बाद आपके लिए यह निर्णय करना सम्भव होगा कि यह डर कितना निराधार है कि सामाजिक कार्यों के न्यायसंगत बँटवारे से प्रत्येक व्यक्ति पर श्रम का इतना बोझ आ जायेगा कि उनके लिए अन्य किसी काम में लगना असम्भव हो जायेगा। इसके विपरीत हम यह कह सकते हैं कि इस प्रकार के संगठन में, प्रत्येक व्यक्ति का परम्परागत श्रमकाल घटकर आधा हो जायेगा – उस श्रम के उपयोग से जो या तो इस्तेमाल नहीं होता या अनुपयोगी ढंग से इस्तेमाल होता है।

पर, कम्युनिस्ट संगठन द्वारा प्रस्तावित लाभों मे बर्बाद हो रही श्रम शक्ति का इस्तेमाल ही सबसे महत्वपूर्ण नहीं है। श्रम शक्ति की अत्यधिक बचत इस तथ्य में निहित है कि इसमें व्यक्तिगत सामर्थ्य को सामाजिक और सामूहिक सामर्थ्य से मिला दिया जाता है और इस बात पर निर्भर है कि यह उन शक्तियों का संकेन्द्रण करती है जो पहले एक दूसरे की विरोधी थीं।

(मार्क्स-एंगेल्स : कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-4, पृ. 246-252)

पंजीयन संख्या 71980/99 | डाक पंजीयन संख्या LW-NP/349/2006-08 | प्रेषक डाकघर - महानगर | प्रेषण तिथि- महीने का द्वितीय सप्ताह

आतंकवाद इस पूँजीवादी व्यवस्था का पैदा किया नासूर है

यह अन्धराष्ट्रवादी जुनून में बहने का नहीं, संजीदगी से सोचने और फ़ैसला करने का वक़्त है

(पेज 1 से आगे)

लो! यह अयूब ख़ान और भुट्टो के ज़माने से चला आ रहा आजमूदा दाँव है। भूलना नहीं चाहिए कि पाकिस्तान की आर्थिक हालत इस समय इतनी ख़राब है कि अभी एक महीना पहले वह दिवालिया होने के कगार पर पहुँच गया था। ऐसे में, इस घटनाक्रम से ज़रदारी की भी गोट लाल हो रही है और भारत-विरोधी अन्धराष्ट्रवादी लहर पैदाकर उसका फायदा उठाने की वे पूरी कोशिश कर रहे हैं।

भारतीय शासक वर्ग के विभिन्न धड़े भी अपने-अपने ढंग से इसका फायदा उठाने में लगे हैं। आर्थिक मन्दी और कमरतोड़ महँगाई से निपट पाने में पूरी तरह नाकाम मनमोहन सिंह सरकार को मूल मुद्दों से जनता का ध्यान हटाने का मौक़ा मिल गया है। चुनाव में अल्पसंख्यक वोटों के लिए पोटा हटाने का कांग्रेस ने वादा तो किया था लेकिन ऐसा कड़ा क़ानून आज भारतीय शासक वर्ग की ज़रूरत भी है और इस मुद्दे पर भाजपा के हमले से वह दबाव में भी है। इस घटना के बहाने उसे पोटा से भी सख़्त क़ानून बनाने का मौक़ा मिल गया है।

उधर भाजपा को ऐन विधानसभा चुनाव के पहले एक ऐसा मुद्दा मिल गया जिसे वह जमकर भुनाने की कोशिश कर रही है और जिसके शोर में मालेगाँव तथा नांदेड़ आदि बम धमाकों में पकड़े गये हिन्दू आतंकवादियों का मामला फिलहाल पृष्ठभूमि में चला गया है। संघ गिरोह के संगठनों को हम तो पहले भी आतंकवादी मानते थे - गुजरात और उड़ीसा में जो कुछ इन्होंने किया वह भी आतंकवाद ही था। योजनाबद्ध ढंग से वहशी भीड़ को लेकर गर्भवती औरतों के पेट चीरकर बच्चों को काट डालना, सामूहिक बलात्कार, लोगों को ज़िन्दा जला देना - ये सब भी बर्बर, वहशी आतंकवाद ही है। लेकिन इनका दूसरा रूप भी जनता के सामने नंगा हो रहा था जिस पर अब पर्दा पड़ गया है। इसे भुनाने के लिए ये इतने उतावले थे कि मुठभेड़ अभी जारी ही थी कि नरेन्द्र मोदी और आडवाणी मुम्बई पहुँचकर बयानबाज़ी करने लगे।

मीडिया में लगातार इस पर चर्चा जारी है कि यह घटना सुरक्षा इन्तजामों और खुफ़िया तन्त्र की ख़ामियों का नतीजा है। पर सच तो यह है कि महज़ इन्तजामों को चाक-चौबन्द करके ऐसे हमलों को नहीं रोका जा सकता। अगर भारत इज़रायल से हथियारों के सौदे करेगा, अमेरिका के इशारे पर ईरान विरोधी बयान देगा, अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर फ़लस्तीन के साथ दिखायी जाने वाली रस्मी एकता से भी पीछे हटेगा, अफ़गानिस्तान में हामिद करजई की अमेरिकी कठपुतली सरकार के साथ गलबहियाँ डालेगा और अमेरिकी टट्टू जैसा आचरण करेगा तो खुद अमेरिका के पैदा किये हुए तालिबान और अलकायदा जैसे भस्मासुरों का यहाँ-वहाँ निशाना बनने से भला कबतक बचेगा। भारतीय विदेशनीति के चलते इसकी छवि दिन-ब-दिन अमेरिका- परस्त और पश्चिम-परस्त बनती जा रही है। बेशक, आतंकवाद द्वारा साम्राज्यवाद का कोई विरोध नहीं किया जा सकता और अन्ततः यह साम्राज्यवाद को फ़ायदा ही पहुँचाता है लेकिन जो आतंकवादी संगठन सोचते हैं कि अपने ढंग से साम्राज्यवाद पर चोट कर रहे हैं उन्होंने भारत को भी निशाने पर ले लिया है।

इसके साथ ही, यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आडवाणी की रथयात्रा और बाबरी मस्जिद गिराये जाने के समय से हो रही घटनाएँ देश के अल्पसंख्यक समुदाय के अलगाव और अपमान को लगातार बढ़ाती रही हैं। किसी क्रान्तिकारी विकल्प की ग़ैर-मौजूदगी में उनकी गहन निराशा और घुटन बढ़ती जा रही है। जब गुजरात जैसे जरसंहार और टीवी पर बाबू बजरंगी जैसे लोगों को सरेआम अपनी बर्बर हरक़तों का बयान करते दिखाने के बाद भी किसी के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं होती है और दूसरी तरफ़ महज़ अल्पसंख्यक होने के कारण हज़ारों नौजवानों को गिरफ़्तार और टॉर्चर किया जाता है, फर्ज़ी मुठभेड़ों में मार दिया जाता है तो इस देश में इन्साफ़ मिलने की उनकी उम्मीद दिन-ब-दिन ख़त्म होती जाती है। ऐसे में गहरी निराशा और बेबसी की हालत में, कोई उपाय न देखकर प्रतिक्रियास्वरूप कुछ युवा आतंकवाद की तरफ़ मुड़ सकते हैं। मुम्बई जैसी घटनाओं के बाद बना माहौल, जिसमें मीडिया की मुख्य भूमिका है, अल्पसंख्यकों के अलगाव को और बढ़ा ही रहा है। अख़बारों में भी ऐसी अनेक घटनाओं की ख़बरें आयी हैं कि 26 नवम्बर के बाद स्कूल से लेकर कार्यालय और रेल-बस तक में लोगों को उनके मज़हब के कारण अपमानित किया गया है। बुर्जुआ राज्य के हित में दूर तक सोचने वाले कुछ संजीदा बुद्धिजीवी संयम से काम लेने की सलाह दे रहे हैं और ऐसी बातें कर रहे हैं कि संकट की इस घड़ी में हम सबको एक रहना चाहिए, आदि-आदि। लेकिन प्रकारानतर से ये भी उस समुदाय के अलगाव को बढ़ाने का ही काम कर रहे हैं जिसकी वफ़ादारी को हिन्दू कट्टरपन्थी पाकिस्तान से जोड़कर उसे ग़ैर-देशभक्त साबित करने पर तुले रहते हैं।

इस वक़्त देश की एकता की काफ़ी बातें की जा रही हैं मानो टाटा-बिड़ला- अम्बानी से लेकर 20 रुपये रोज़ पर जीने वाले 84 करोड़ ग़रीब लोगों तक सबके हित एक ही हैं। आज तक देशभर में होने वाले बम विस्फोटों, दंगे-फसाद में हज़ारों आम लोग मरते रहे, उनके घर जलते रहे पर इतना बड़ा मुद्दा कभी नहीं बना। इस बार सबसे अधिक बवंडर इसलिए भी मचा है क्योंकि आतंकवादियों ने ताज होटल जैसे भारत के "आर्थिक प्रतीकचिह्नों" पर हमला किया है। उस ताज होटल पर जिसके बारे में एक अख़बार ने लिखा कि ताज में घुसने पर पता चलता है कि विलासिता और शानो-शौक़त क्या होती है! जिसके एक सुइट का एक दिन का किराया एक मज़दूर की सालभर की कमाई से भी ज़्यादा होता है! छत्रपति शिवाजी टर्मिनस पर सबसे बड़ी संख्या में मारे गये आम लोगों के लिए इतनी चिन्ता और दुख नहीं जताया जा रहा है जितना कि ताज और ओबराय होटलों में मरने वालों के लिए। सीएसटी स्टेशन पर मरने वाले सारे आम लोग थे - कोई दिनभर की मेहनत के बाद घर लौट रहा था, कोई परिवार सहित अपने गाँव जा रहा था, कोई नौकरी के इण्टरव्यू के लिए ट्रेन पकड़ने आया था। लेकिन इस समाज में आम आदमी की ज़िन्दगी भी सस्ती होती है और उसकी मौत भी।

मुम्बई की घटना के बाद उद्योगपतियों से लेकर फ़िल्म स्टारों तक ऊपरी तबके के तमाम लोग अचानक आतंकवाद के ख़िलाफ़ सड़क पर उतर आये क्योंकि इस हमले ने पहली बार उनके भीतर अपनी जान का भय पैदा कर दिया है। अब तक आतंकवादी हमलों में अक्सर आम लोग ही मरते थे और वे सोचते थे कि बन्दूकधारी सिक्योरिटी गार्डों और ऊँची दीवारों से घिरे अपने बंगलों में वे सुरक्षित हैं, लेकिन इस बार उन्हें लगने लगा कि अब तो हद ही हो गयी! अब तो हम भी महफ़ूज़ नहीं!

लेकिन इसका एक दूसरा पहलू भी है। यह घटना देश की चोर, भ्रष्ट, विलासी और आपराधिक नेताशाही के ख़िलाफ़ आम जनता के आक्रोश को स्वर देने का एक ज़रिया भी बन गयी। नेताओं की लूट-खसोट, निकम्मेपन और खुद भयंकर ख़र्चीले सुरक्षातन्त्र में रहते हुए जनता की सुरक्षा पर ध्यान पर ध्यान न देने वाले नेताओं पर लोगों का बरसों से जमा गुस्सा फूट पड़ा। इस घटना पर लोगों की प्रतिक्रियाओं के कई पहलू थे लेकिन सबसे अधिक नफ़रत और गुस्सा हर पार्टी की नेताशाही के ख़िलाफ़ था। किसी ने कहा कि नेता बार-बार कहते हैं कि वे जनता के लिए प्राण न्यौछावर कर देंगे तो क्यों नहीं वे अपनी सुरक्षा छोड़कर लोगों के बीच चले आते। एक महिला ने कहा कि जितनी सुरक्षा एक-एक नेता को दी जाती है उतने में बच्चों के एक-एक स्कूल की सुरक्षा का इन्तजाम किया जा सकता है - क्या सैकड़ों बच्चों की जान एक नेता से भी कम क़ीमती है? बेशक, लोगों के गुस्से का यह उभार तात्कालिक है और किसी संगठित आन्दोलन के अभाव में जल्दी ही यह शान्त हो जायेगा, लेकिन इसने सत्ताधारियों की पूरी जमात को इस बात का अहसास ज़रूर करा दिया होगा कि जनता के मन में नेताओं के ख़िलाफ़ किस क़दर नफ़रत भरी हुई है।

मुम्बई की घटना कोई अलग-थलग घटना नहीं है और न ही सुरक्षा के सरकारी उपायों को चुस्त-दुरुस्त करने से ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोका जा सकता है। प्रश्न को व्यापक सन्दर्भों में देखना होगा। आतंकवाद एक वैश्विक परिघटना भी है जिसकी जड़ें साम्राज्यवादी देशों की नीतियों में हैं। भारतीय समाज का भी यह एक असाध्य रोग बन चुका है जिसे यहाँ की आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों ने पैदा किया है और खाद-पानी दिया है। यह पूँजीवादी व्यवस्था के चौतरफा संकट की ही एक और अभिव्यक्ति है। विभिन्न रूपों में आतंकवादी घटनाएँ पूरे देश में हो रही हैं। इस व्यवस्था के पास इसका कोई समाधान नहीं है, बल्कि व्यवस्था का आर्थिक संकट इसके लिए और ज़मीन तैयार कर रहा है। आतंकवाद इस व्यवस्था का एक ऐसा नासूर है जो रिसता रहेगा और समाज में कलह और तक़लीफ़ पैदा करता रहेगा। लोगों को आपस में लड़ाने वाली इस लुटेरी और अत्याचारी व्यवस्था के नाश के साथ ही इस नासूर का भी अन्त होगा।

जनता का एक हिस्सा इन बातों को समझता भी है लेकिन जनता का बड़ा हिस्सा अन्धराष्ट्रवादी जुनून में बहने भी लगता है। शासक वर्ग के हित भी इससे पूरे होते हैं। आतंकवाद रोकने के नाम पर संघीय जाँच एजेंसी गठित करने और पोटा से भी कड़ा क़ानून बनाने की जो कवायदें की जा रही हैं उनसे आतंकवाद को तो रोका नहीं जा सकेगा मगर इनका असली इस्तेमाल होगा मेहनतकशों के आन्दोलनों को कुचलने के लिए। रासुका और टाडा से लेकर पोटा तक इसके उदारहण हैं।

हर तरह का आतंकवाद जनता की वास्तविक मुक्ति के आन्दोलन को नुकसान पहुँचाता है। आतंकवाद के रास्ते से जनता कुछ नहीं हासिल कर सकती। असली सवाल एक क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करने का है। मेहनतकश वर्ग के उन्नत, वर्ग सचेत तत्वों को इस बात को समझना होगा और व्यापक मेहनतकश अवाम को इसके लिए संगठित करने की तैयारी करनी होगी।

बिगुल पुस्तिकाएँ

1. **कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा** लेनिन 5.00
2. **मकड़ा और मक्खी** विल्हेल्म लीब्कनेख़्त 3.00
3. **ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीक़े** सेर्गेई रोस्तोवस्की 3.00
4. **मई दिवस का इतिहास** अलेक्ज़ैण्डर ट्रैक्टनबर्ग 5.00
5. **पेरिस कम्यून की अमर कहानी** 10.00
6. **अक्टूबर क्रान्ति की मशाल** 12.00
7. **जंगलनामा : एक राजनीतिक समीक्षा** - डॉ. दर्शन खेड़ी 6.00
8. **लाभकारी मूल्य, लागत मूल्य, मध्यम किसान और छोटे पैमाने के माल उत्पादन के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण : एक बहस** 30.00
9. **संशोधनवाद के बारे में** 5.00
10. **शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की कहानी** हावर्ड फ़ास्ट 10.00
11. **मज़दूर आन्दोलन में नयी शुरुआत के लिए** 15.00
12. **मज़दूर नायक, क्रान्तिकारी योद्धा** 10.00
13. **चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही :भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर** 3.00
14. **बोलते आँकड़े चीखती सच्चाइयाँ : नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष : भारत की तरक्की के दावों के ढोल की पोल : समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा** 3.00

प्रकाशक : राहुल फाउण्डेशन

मँगाने के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोन : 0522-2786782, ईमेलः janchetna@rediffmail.com

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंगः कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल पकाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : **डा. दूधनाथ, सुखविन्दर** • सम्पादकीय पता : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 020** • सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ